

Chapter दो

भगवान् कृष्ण का स्मरण

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्ठः क्षत्रा वार्ता प्रियाश्रयाम् ।

प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भागवतः—महान् भक्त; पृष्ठः—पूछे जाने पर; क्षत्रा—विदुर द्वारा; वार्ताम्—सन्देश; प्रिय-आश्रयाम्—प्रियतम के विषय में; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; न—नहीं; च—भी; उत्सेहे—उत्सुक हुआ; औत्कण्ठ्यात्—अत्यधिक उत्सुकता वश; स्मारित—स्मृति; ईश्वरः—ईश्वर ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब विदुर ने महान् भक्त उद्धव से प्रियतम (कृष्ण) का सन्देश बतलाने के लिए कहा तो भगवान् की स्मृति के विषय में अत्यधिक विह्वलता के कारण उद्धव तुरन्त उत्तर नहीं दे पाये ।

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।

तन्नैच्छद्रचयन्यस्य सपर्या बाललीलया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का; मात्रा—अपनी माता द्वारा; प्रातः—आशाय—कलेवा के लिए; याचितः—बुलाये जाने पर; तत्—उस; न—नहीं; ऐच्छत्—चाहा; रचयन्—खेलते हुए; यस्य—जिसकी; सपर्याम्—सेवा; बाल-लीलया—बचपन ।

वे अपने बचपन में ही जब पाँच वर्ष के थे तो भगवान् कृष्ण की सेवा में इतने लीन हो जाते थे कि जब उनकी माता प्रातःकालीन कलेवा करने के लिए बुलातीं तो वे कलेवा करना नहीं चाहते थे ।

तात्पर्य : अपने जन्म से ही उद्धव भगवान् कृष्ण के सहज भक्त अर्थात् नित्य-सिद्ध, मुक्त-आत्मा थे । वे अपने बचपन में भी स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा के कारण कृष्ण की सेवा करते थे । वे कृष्ण के स्वरूप वाले गुडों से खेला करते, उन्हें वस्त्र पहनाते, खिलाते और पूजा किया करते । इस तरह वे दिव्य साक्षात्कार की क्रीड़ा में निरन्तर लीन रहते । ये ही सब नित्य मुक्तात्मा के लक्षण हैं । नित्य मुक्तात्मा भगवान् का भक्त होता है, जो उनको कभी नहीं भुलाता । मानव जीवन भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुनर्जागृत करने के लिए होता है और सारे धार्मिक आदेश जीव की इस सुप्त अन्तः प्रेरणा को जागृत करने के लिए होते हैं । यह जागृति जितनी ही जल्दी लाई जा सके उतनी ही तेजी से मानव

जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। भक्तों के अच्छे परिवार में बालक को भगवान् की सेवा करने का अनेक प्रकार से अवसर मिलता है। ऐसा व्यक्ति जो पहले से भक्ति में प्रगति कर चुका होता है, उसे ऐसे प्रबुद्ध परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—पतित भक्त को भी सुसम्पन्न ब्राह्मण परिवार में, या धनी वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इन दोनों परिवारों में ईश-भावनामृत के अपने बोध को स्वतः पुनरुज्जीवित करने का अच्छा अवसर रहता है, क्योंकि इन परिवारों में नियमित रूप से भगवान् कृष्ण की पूजा की जाती है और बालक को पूजाविधि अर्थात् अर्चना का अनुकरण करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

भक्ति में लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए *पाञ्चरात्रिकी विधि* मन्दिर पूजा है, जिसके द्वारा नवदीक्षितों को भगवद्भक्ति सीखने का अवसर मिलता है। महाराज परीक्षित भी अपने बचपन में कृष्ण के गुडों से खेला करते थे। अब भी भारत में अच्छे परिवारों में बच्चों को खेलने के लिए राम तथा कृष्ण के खिलौने या कभी-कभी देवताओं के खिलौने दिये जाते हैं जिससे उनमें भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। भगवत्कृपा से हमें भी हमारे माता-पिता ने ऐसा ही सुअवसर प्रदान किया और हमारे जीवन का शुभारम्भ इसी सिद्धान्त पर आधारित था।

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।

पृष्ठो वार्ता प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; कथम्—कैसे; सेवया—ऐसी सेवा से; तस्य—उसका; कालेन—समय के साथ; जरसम्—अशक्तता को; गतः—प्राप्त; पृष्ठः—पूछे जाने पर; वार्ताम्—सन्देश; प्रतिब्रूयात्—उत्तर देने के लिए; भर्तुः—भगवान् के; पादौ—चरण कमलों का; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

इस तरह उद्धव अपने बचपन से ही लगातार कृष्ण की सेवा करते रहे और उनकी वृद्धावस्था में सेवा की वह प्रवृत्ति कभी शिथिल नहीं हुई। जैसे ही उनसे भगवान् के सन्देश के विषय में पूछा गया, उन्हें तुरन्त उनके विषय में सब कुछ स्मरण हो आया।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति दिव्य सेवा लौकिक नहीं होती। भक्त की सेवा-प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है और वह कभी शिथिल नहीं पड़ती। सामान्यतया वृद्धावस्था में व्यक्ति को संसारी सेवा से

निवृत्ति लेने की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु भगवान् की दिव्य सेवा से कोई निवृत्त नहीं होता। विपरित इसके आयु बढ़ने के साथ-साथ भक्ति की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है। चूँकि दिव्य सेवा में तृप्ति नहीं होती, अतः इससे कोई निवृत्ति नहीं होती है। भौतिक दृष्टि से जब मनुष्य अपने भौतिक शरीर से सेवा करते करते थक जाता है, तो उसे सेवा से निवृत्ति की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु दिव्य सेवा में थकान का अनुभव नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक सेवा होती है और शारीरिक स्तर पर नहीं होती। शारीरिक स्तर पर होने वाली सेवा शरीर के वृद्ध होने के साथ घटती जाती है, किन्तु आत्मा कभी वृद्ध नहीं होता, अतः आध्यात्मिक स्तर पर सेवा कभी उबाऊ नहीं लगती।

निस्सन्देह, उद्धव वृद्ध हो चुके थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी आत्मा वृद्ध हो गई थी। दिव्य स्तर पर उनकी सेवा-प्रवृत्ति परिपक्व हो चुकी थी, अतएव जब विदुर ने कृष्ण के विषय में प्रश्न किया, तो उन्होंने तुरन्त भगवान् को सारे सन्दर्भों सहित स्मरण किया और वे शारीरिक स्तर पर स्वयं को भूल गये। यह शुद्ध भगवद्भक्ति का लक्षण है, जैसाकि बाद में भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिये गये (*लक्षणं भक्ति योगस्य...*) उपदेशों के प्रसंग में बतलाया जाएगा।

स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; अभूत्—हो गया; तूष्णीम्—मौन; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमलों के; सुधया—अमृत से; भृशम्—सुपक्व; तीव्रेण—अत्यन्त प्रबल; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; निमग्नः—डूबे हुए; साधु—उत्तम; निर्वृतः—प्रेम पूर्ण।

वे क्षणभर के लिए एकदम मौन हो गये और उनका शरीर हिला-डुला तक नहीं। वे भक्तिभाव में भगवान् के चरणकमलों के स्मरण रूपी अमृत में पूरी तरह निमग्न हो गये और उसी भाव में वे गहरे उतरते दिखने लगे।

तात्पर्य : विदुर द्वारा कृष्ण के विषय में पूछे जाने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानो उद्धव नींद से जगे हों। वे यह खेद करते प्रतीत हुए कि उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को भुला दिया है। इस पर उन्होंने पुनः भगवान् के चरणकमलों का स्मरण किया और उनके प्रति अपनी दिव्य प्रेमाभक्ति का स्मरण किया। ऐसा करने से उन्हें वैसा ही आनन्द मिला जैसाकि वे भगवान् की उपस्थिति में अनुभव करते

थे। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी स्मृति तथा उनकी सदेह उपस्थिति में कोई अन्तर नहीं है। इस तरह उद्धव एक क्षण के लिए पूर्णतः मौन रहे, किन्तु वे उस आनन्द में अधिकाधिक गहरे जाते प्रतीत हुए। भावावेश का प्रदर्शन महाभागवतों द्वारा किया जाता है। शरीर में आठ प्रकार के दिव्य परिवर्तन होते हैं। ये हैं अश्रु, कम्पन, प्रस्वेदन, बेचैनी, रोमांच, गले का रूँधना इत्यादि और विदुर के समक्ष उद्धव में इन सबका प्राकट्य हुआ।

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णाथो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पुलक-उद्भिन्न—दिव्य भाव के शारीरिक परिवर्तन; सर्व-अङ्गः—शरीर का हर भाग; मुञ्चन्—लेपते हुए; मीलत्—खोलते हुए; दृशा—आँखों द्वारा; शुचः—शोक के अश्रु; पूर्ण-अर्थः—पूर्ण सिद्धि; लक्षितः—इस तरह देखा गया; तेन—विदुर द्वारा; स्नेह-प्रसर—विस्तृत प्रेम; सम्प्लुतः—पूर्णरूपेण स्वात्मीकृत।

विदुर ने देखा कि उद्धव में सम्पूर्ण भावों के कारण समस्त दिव्य शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न हो आये हैं और वे अपनी आँखों से विछोह के आँसुओं को पोंछ डालने का प्रयास कर रहे हैं। इस तरह विदुर यह जान गये कि उद्धव ने भगवान् के प्रति गहन प्रेम को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है।

तात्पर्य : भगवान् के एक अनुभवी भक्त विदुर ने उद्धव में भक्तिमय जीवन के उच्चतम लक्षण देखे और उन्होंने उनके भगवत्प्रेम की सिद्धावस्था की पुष्टि की। ऐसे भावमय शारीरिक परिवर्तन आध्यात्मिक स्तर पर प्रगट होते हैं और ये अभ्यास द्वारा उत्पन्न की गई कृत्रिम अभिव्यक्तियाँ नहीं होते। भक्ति के विकास की तीन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था है भक्ति संहिताओं में संस्तुत विधि-विधानों का पालन करना। दूसरी अवस्था है भक्ति की स्थायी दशा का आत्मसात् होना तथा उसकी अनुभूति होना और अन्तिम अवस्था है दिव्य शारीरिक अभिव्यक्ति के लक्षणों वाली भाव-अवस्था। भक्ति की नौ विभिन्न विधियाँ यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि इस विधि के शुभारम्भ हैं। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के नियमपूर्वक श्रवण से शिष्य के हृदय की अशुद्धियाँ धुलने लगती हैं। जिस शिष्य की अशुद्धियाँ जितनी अधिक धुल जाती है, वह भक्ति में उतना ही अधिक दृढ़ होता जाता है। क्रमशः ये भक्ति कार्य एक-एक करके स्थिरता, दृढ़ विश्वास, स्वाद, अनुभूति तथा

आत्मसात् का रूप धारण कर लेते हैं। क्रमिक विकास की ये विभिन्न अवस्थाएँ ईश प्रेम को सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचा देती हैं और इस सर्वोच्च अवस्था में भी स्नेह, क्रोध तथा अनुराग जैसे अन्य लक्षण पाये जाते हैं। धीरे-धीरे विशेष दशाओं में ये महाभाव की दशा को प्राप्त कर लेते हैं, जो जीवों में सामान्यतया सम्भव नहीं हैं। ये सभी ईश्वर प्रेम के साक्षात् रूप श्री चैतन्य महाप्रभु में प्रकट होते थे।

श्री चैतन्य महाप्रभु के मुख्य शिष्य श्री रूप गोस्वामी कृत भक्ति-रसामृत-सिन्धु में इन दिव्य लक्षणों का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है, जो उद्धव जैसे शुद्ध भक्तों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। हमने भी भक्ति-रसामृत-सिन्धु का सार रूप में दि नेक्टर आफ डिवोशन शीर्षक से एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक को भक्ति विज्ञान पर अधिक जानकारी हेतु देखा जा सकता है।

शनकैर्भगवल्लोकात् नृलोकं पुनरागतः ।

विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रीत्याहोद्धव उत्समयन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शनकैः—धीरे-धीरे; भगवत्—भगवान्; लोकात्—धाम से; नृलोकम्—मनुष्य लोक को; पुनः आगतः—फिर से आकर; विमृज्य—पोंछकर; नेत्रे—आँखें; विदुरम्—विदुर से; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; आह—कहा; उद्धवः—उद्धव ने; उत्समयन्—उन स्मृतियों के द्वारा।

महाभागवत उद्धव तुरन्त ही भगवान् के धाम से मानव-स्तर पर उतर आये और अपनी आँखें पोंछते हुए उन्होंने अपनी पुरानी स्मृतियों को जगाया तथा वे विदुर से प्रसन्नचित्त होकर बोले।

तात्पर्य : जब उद्धव ईशप्रेम के दिव्य भाव में मग्न थे तो वे बाह्य जगत के विषय में सब कुछ भूल गये थे। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवद्धाम में रहता है यहाँ तक कि वर्तमान शरीर में भी जो कि इस जगत से सम्बन्धित है। शुद्ध भक्त पूरी तरह शारीरिक स्तर पर नहीं रहता, क्योंकि वह परमात्मा के दिव्य विचार में निमग्न रहता है। चूँकि अब उद्धव विदुर से बात करना चाह रहे थे, अतः उद्धव भगवद्धाम द्वारका से नीचे उतर कर मनुष्यों के भौतिक स्तर पर आ गये। यद्यपि शुद्ध भक्त इस मर्त्य जगत में उपस्थित रहता है, किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे होने के कारण ही वह यहाँ पर रहता है, किसी अन्य भौतिक कारण से नहीं। जीव अपने अस्तित्व की स्थिति के अनुसार या तो भौतिक स्तर पर रह सकता है या भगवान् के दिव्य धाम में। जीव में होनेवाले पारिस्थितिक परिवर्तनों की व्याख्या भगवान् श्री चैतन्य द्वारा श्रील रूप गोस्वामी को दिए गये उपदेशों में चैतन्य चरितामृत में की गई है, “समस्त

ब्रह्माण्डों में सारे जीव अपने कर्म का फल जन्म-जन्मांतर भोगते हैं। इनमें से कुछ जीव शुद्ध भक्तों की संगति में आकर रस प्राप्ति के द्वारा भक्ति करने का अवसर प्राप्त कर पाते हैं। यही आस्वाद भक्ति का बीज है और जो इस बीज को प्राप्त करने का परम भाग्यशाली होता है उसे सलाह दी जाती है कि वह अपने हृदय के अन्तस्थल में इस बीज को बो दे। जिस तरह बीज बोने के बाद उसमें फल लगने के लिए पानी देकर सींचना पड़ता है उसी तरह भक्त के हृदय में बोया हुआ भक्ति का बीज भगवान् के नाम तथा लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींच कर बड़ा किया जा सकता है। इस तरह से पोषित भक्ति की लता क्रमशः बढ़ती जाती है और भक्त माली के रूप में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से उसे सींचता रहता है। यह भक्तिलता धीरे-धीरे इतनी ऊँची बढ़ जाती है कि सारे भौतिक ब्रह्माण्ड को पार करते हुए वह वैकुण्ठलोक में पहुँचती है जहाँ से आगे बढ़ते हुए वह गोलोक वृन्दावन पहुँच जाती है। भक्त रूपी माली मात्र श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भगवान् की भक्ति करने से भौतिक स्तर पर होते हुए भी भगवद्धाम के सम्पर्क में रहता है। जिस तरह लता किसी अन्य बलवान् वृक्ष की शरण लेती है उसी तरह भक्ति रूपी लता भक्त द्वारा पोषित होकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करती है और इस तरह स्थिर हो जाती है। जब लता स्थिर हो जाती है, तो उसमें फल लग जाता है और तब जिस माली ने इसका पोषण किया था वह प्रेम रूपी फल का आस्वाद कर सकता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।” उद्धव को यह अवस्था प्राप्त हो गई थी, यह उनके व्यवहार से स्पष्ट है। वे परम धाम पहुँच सकते थे और उसी के साथ-साथ इस जगत में भी प्रकट हो सकते थे।

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणि निम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।

किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कृष्ण-द्युमणि—कृष्ण सूर्य; निम्लोचे—अस्त होने पर; गीर्णेषु—निगला जाकर; अजगरेण—अजगर सर्प द्वारा; ह—भूतकाल में; किम्—क्या; नु—अन्य; नः—हमारी; कुशलम्—कुशल-मंगल; ब्रूयाम्—मैं कहूँ; गत—गई हुई, विहीन; श्रीषु गृहेषु—घर में; अहम्—मैं।

श्री उद्धव ने कहा : हे विदुर, संसार का सूर्य कृष्ण अस्त हो चुका है और अब हमारे घर को काल रूपी भारी अजगर ने निगल लिया है। मैं आपसे अपनी कुशलता के विषय में क्या कह सकता हूँ?

तात्पर्य : कृष्ण रूपी सूर्य के अस्त होने की व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है : जब विदुर को महान् यदुवंश के तथा अपने परिवार कुरुवंश के संहार का संकेत मिला तो वे अत्यधिक उद्विग्न हो उठे। उद्धव विदुर के शोक को समझ गये, अतः उन्होंने सर्वप्रथम यह कहकर कि सूर्य के अस्त होने पर सारे लोग अंधकार में हैं, संवदेना प्रकट करनी चाही। चूँकि सारा जगत शोक के अंधकार में डूबा था अतः न तो विदुर, न उद्धव, न ही अन्य कोई प्रसन्न रह सकता था। विदुर जितने ही उद्धव भी दुखी थे, अतः उनके कुशलक्षेम के विषय में इससे अधिक कहने के लिए उनके पास कुछ न था।

सूर्य से कृष्ण की तुलना उपयुक्त है। सूर्य के अस्त होते ही अंधकार स्वतः छा जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति द्वारा अनुभव किया गया अंधकार सूर्य को प्रभावित नहीं करता चाहे समय सूर्योदय का हो या सूर्यास्त का। कृष्ण का आविर्भाव तथा उनका तिरोभाव सूर्य के ही समान हैं। वे असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट होते तथा अन्तर्धान होते रहते हैं और जब तक वे किसी ब्रह्माण्ड विशेष में विद्यमान रहते हैं तब तक उस ब्रह्माण्ड में दिव्य प्रकाश रहता है, किन्तु जिस ब्रह्माण्ड से वे चले जाते हैं वह अंधकार में समा जाता है। तो भी उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं। भगवान् सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहते हैं जिस तरह सूर्य पूर्वी या पश्चिमी गोलार्ध में विद्यमान रहता है। सूर्य सदा ही भारत में या अमरीका में रहता है, किन्तु जब सूर्य भारत में रहता है, तो अमरीका देश अंधकार में रहता है और जब सूर्य अमरीका में रहता है, तो भारतीय गोलार्ध अंधकार में रहता है।

जिस तरह सूर्य प्रातःकाल उदय होता है और क्रमशः मध्याकाश में पहुँचता है, तत्पश्चात् किसी गोलार्ध में अस्त होकर उसी के साथ किसी अन्य गोलार्ध में उदय होता है उसी तरह किसी एक ब्रह्माण्ड से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के साथ ही अन्य ब्रह्माण्ड में उनकी विभिन्न लीलाओं का शुभारम्भ होना है। ज्योंही यहाँ कोई एक लीला समाप्त हो जाती है, त्योंही वह अन्य ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है। इस तरह उनकी नित्य लीलाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। जिस तरह सूर्योदय चौबीस घण्टों में एक बार होता है उसी तरह एक ब्रह्माण्ड में कृष्ण की लीलाएँ ब्रह्मा के एक दिन में सम्पन्न होती है। *भगवद्गीता* में ब्रह्मा के एक दिन का विवरण ४,३०,००,००,००० सौर वर्ष दिया गया है। किन्तु भगवान् जहाँ भी उपस्थित रहते हैं, उनकी समस्त विविध लीलाएँ नियमित अन्तराल पर होती रहती हैं

जैसाकि शास्त्रों में बतलाया गया है।

सूर्यास्त के समय सर्प प्रबल हो उठते हैं, चोरों को प्रोत्साहन मिलता है, भूत-प्रेत सक्रिय हो उठते हैं, कमल म्लान हो जाते हैं तथा चक्रवाकी विलाप करने लगती है। उसी तरह भगवान् कृष्ण के तिरोभाव से नास्तिक प्रफुल्लित होते हैं और भक्तगण दुखी होते हैं।

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।

ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुर्भगः—अभागा; बत—निश्चय ही; लोकः—ब्रह्माण्ड; अयम्—यह; यदवः—यदुकुल; नितराम्—विशेषरूप से; अपि—भी; ये—जो; संवसन्तः—एकसाथ रहते हुए; न—नहीं; विदुः—जान पाये; हरिम्—भगवान् को; मीनाः—मछलियाँ; इव उडुपम्—चन्द्रमा की तरह।

समस्त लोकों समेत यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त अभागा है। यदुकुल के सदस्य तो उनसे भी बढ़कर अभागे हैं, क्योंकि वे श्री हरि को भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये जिस तरह मछलियाँ चन्द्रमा को नहीं पहचान पातीं।

तात्पर्य : उद्धव इस संसार के उन अभागे लोगों के प्रति शोक व्यक्त कर रहे थे, जो भगवान् कृष्ण के समस्त दिव्य सद्गुणों को देखते हुए भी उन्हें नहीं पहचान पाते। राजा कंस के बन्दीघर के सीकचों के भीतर उनके प्राकट्य से लेकर उनकी मौसल लीला तक मूर्ख लोग यह नहीं समझ पाये कि वे भगवान् थे, यद्यपि उन्होंने भगवान् के रूप में अपना षडेश्वर्य धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग—प्रदर्शित किया था। मूर्ख लोगों ने उन्हें एक अद्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में समझा होगा, क्योंकि भगवान् से उनका घनिष्ठ सम्पर्क नहीं था, किन्तु इनसे भी अधिक अभागे भगवान् के पारिवारिक सदस्य यदुवंशी थे, जो भगवान् के संग में सदैव रहते हुए भी उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये। उद्धव ने अपने भाग्य पर भी शोक व्यक्त किया, क्योंकि कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हुए भी वे इस अवसर का लाभ भगवान् की भक्ति करने में नहीं उठा पाये। उन्होंने स्वयं समेत सबों के भाग्य पर खेद प्रकट किया। भगवान् का शुद्ध भक्त अपने को सर्वाधिक अभागा सोचता है। ऐसा भगवत्प्रेम की अधिकता के कारण होता है और यह विरह की दिव्य अनुभूतियों में से एक है।

शास्त्रों से यह जानकारी मिलती है कि चन्द्रमा का जन्म क्षीर सागर से हुआ। क्षीर सागर ऊपरी लोकों में है और उसमें भगवान् विष्णु जो परमात्मा रूप में हर जीव के हृदय को नियंत्रित करने वाले हैं, क्षीरोकदशायी विष्णु के रूप में निवास करते हैं। जो लोग क्षीर सागर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, उन्होंने समुद्र में केवल नमकीन (खारे) जल का अनुभव किया है, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि यह संसार गो भी कहलाता है, जिसका अर्थ है गाय। गाय का मूत्र नमकीन होता है और आयुर्वेदिक ओषधि में गाय का मूत्र यकृत से पीड़ित रोगियों का उपचार करने में अत्यधिक प्रभावशाली होता है। ऐसे रोगियों को गाय के दूध का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि यकृत रोगियों को दूध कभी नहीं दिया जाता। किन्तु यकृत रोगी को जानना चाहिए कि गाय दूध भी देती है भले ही उस रोगी ने दूध कभी न चखा हो। इसी तरह जिन लोगों को इस क्षुद्र लोक का ही अनुभव है, जिसमें केवल नमकीन जल का सागर विद्यमान है, वे शास्त्रों से यह जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि दूध का भी सागर (क्षीर सागर) होता है, भले ही उन्होंने उसे न देखा हो। इस क्षीर सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ था, किन्तु क्षीर सागर की मछलियाँ यह नहीं पहचान पाई कि चन्द्रमा उन जैसी मछली नहीं है। मछलियों ने चन्द्रमा को अपने जैसी मछली या कोई चमकीली वस्तु से अधिक कुछ नहीं मान रखा था। वे अभागे लोग जो कृष्ण को नहीं पहचान पाते वे ऐसी ही मछलियों के तुल्य हैं। वे उन्हें अपने में से एक, किन्तु ऐश्वर्य, बल आदि में कुछ अद्वितीय करके, मानते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को सर्वाधिक अभागा कहा गया है—*अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्*।

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इङ्गित-ज्ञाः—मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु; पुरु-प्रौढाः—अत्यन्त अनुभवी; एक—एक; आरामाः—विश्राम; च—भी; सात्वताः—भक्तगण या अपने ही लोग; सात्वताम् ऋषभम्—परिवार का मुखिया; सर्वे—समस्त; भूत-आवासम्—सर्व-व्यापी; अमंसत—जान सके।

यदुगण अनुभवी भक्त, विद्वान तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु थे। इससे भी बड़ी बात यह थी कि वे सभी लोग समस्त प्रकार की विश्रान्ति में भगवान् के साथ रहते थे, फिर भी वे उन्हें केवल उस ब्रह्म के रूप में जान पाये जो सर्वत्र निवास करता है।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि परमात्मा को मात्र विद्वत्ता या मानसिक चिन्तन के बल पर नहीं समझा जा सकता—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठ उपनिषद् १.२.२३)* वे केवल उसके द्वारा ज्ञेय हैं जिसे भगवत्कृपा प्राप्त होती है। सारे यादव असाधारण विद्वान एवं अनुभवी थे, किन्तु भगवान् को हर एक के हृदय में वास करने वाले के रूप में जानते हुए भी वे यह न समझ पाये कि वे आदि भगवान् हैं। ज्ञान की यह कमी उनके अपर्याप्त पाण्डित्य के कारण नहीं, अपितु उनके दुर्भाग्य के कारण था। किन्तु वृन्दावन में भगवान् परमात्मा रूप में भी विख्यात नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के निवासी भगवान् के शुद्ध अनौपचारिक भक्त थे और वे उन्हें अपने प्रेम का एकमात्र लक्ष्य समझते थे। वे यह नहीं जानते थे कि वे भगवान् हैं। किन्तु यदुगण अथवा द्वारकापुरी के निवासी कृष्ण को वासुदेव के रूप में या सर्वत्र निवास करने वाले परमात्मा के रूप में जानते थे, परन्तु परमेश्वर के रूप में नहीं जानते थे। वेदों के विद्वान होने के नाते वे वेदों के स्तोत्रों *एकोदेवः...सर्वभूताधिवासः... अन्तर्यामी...* तथा *वृष्णीनां परदेवता* की पुष्टि करते थे। इसलिए यदुओं ने भगवान् कृष्ण को परमात्मा के रूप में स्वीकार किया जिन्होंने उनके परिवार में अवतार लिया था, इससे अधिक और कुछ नहीं।

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।

भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवस्य—भगवान् की; मायया—माया के प्रभाव से; स्पृष्टाः—दूषित हुए; ये—जो लोग; च—तथा; अन्यत्—अन्य लोग; असत्—मायावी; आश्रिताः—वशीभूत; भ्राम्यते—मोहग्रस्त बनाते हैं; धीः—बुद्धि; न—नहीं; तत्—उनके; वाक्यैः—वचनों से; आत्मनि—परमात्मा में; उप्त-आत्मनः—शरणागत आत्माएँ; हरौ—हरि के प्रति।

भगवान् की माया द्वारा मोहित व्यक्तियों के वचन किसी भी स्थिति में उन लोगों की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकते जो पूर्णतया शरणागत हैं।

तात्पर्य : वेदों के समस्त प्रमाणों के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। सभी आचार्यों ने, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने उन्हें भगवान् स्वीकार किया है, किन्तु जब कृष्ण इस संसार में विद्यमान थे तो विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्हें स्वीकार किया। अतएव भगवान् विषयक उनके अनुमान भी भिन्न-भिन्न थे। सामान्यतया जिन लोगों को शास्त्रों में विश्वास था उन्होंने भगवान् को यथारूप में स्वीकार किया और इस जगत से भगवान् के अन्तर्धान होने पर सारे लोग उनके

विकट विछोह में डूब गये। प्रथम स्कन्ध में हम अर्जुन तथा युधिष्ठिर के शोक की विवेचना कर चुके हैं, जिनके लिए कृष्ण का अन्तर्धान होना उनके जीवन के अन्त तक अतीव असह्य बना रहा।

यादवगण भगवान् से आंशिक रूप में अवगत थे। वे भी महिमावान हैं, क्योंकि उन्हें अपने परिवार के प्रमुख के रूप में भगवान् की संगति करने का अवसर मिला था और उन लोगों ने भगवान् की अन्तरंग सेवा भी की थी। यादवगण तथा भगवान् के अन्य भक्त उन लोगों से भिन्न हैं, जिन्होंने गलत आकलन द्वारा उन्हें सामान्य व्यक्ति मान लिया था। ऐसे लोग निश्चित रूप से माया द्वारा भ्रमित होते हैं। वे नारकीय होते हैं और भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उन पर माया अत्यन्त बलपूर्वक कार्य करती है, क्योंकि ऐसे लोग उच्च संसारी शिक्षा के बावजूद श्रद्धाविहीन होते हैं तथा नास्तिकता की मानसिकता से संदूषित होते हैं। वे लोग यह स्थापित करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं कि कृष्ण सामान्य पुरुष थे, जो पृथ्वी के आसुरी राजाओं अर्थात्, धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा जरासन्ध को मारने का षड्यंत्र करने के पापों के फलस्वरूप एक शिकारी द्वारा मार डाले गये। वे *भगवद्गीता* के इन कथनों में कोई विश्वास नहीं रखते कि भगवान् कर्मफलों से अप्रभावित रहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*। नास्तिकतावादी दृष्टिकोण के अनुसार भगवान् कृष्ण का सारा परिवार यदुवंश, कृष्ण द्वारा धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करने आदि के फलस्वरूप किये गये पापों के कारण ब्राह्मणों से शापित होने से विनष्ट हो गया। ये लांछन भगवद्भक्तों के हृदय को स्पर्श नहीं करते, क्योंकि वे वास्तविकता जानते रहते हैं। भगवान् के सम्बन्ध में उनकी बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। किन्तु जो लोग असुरों के कथनों से विचलित हो उठते हैं उनकी भी भर्त्सना की जाती है। इस श्लोक में उद्धव यही कहना चाहते हैं।

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।

आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्रदर्श्य—दिखलाकर; अतप्त—बिना किये; तपसाम्—तपस्या; अवितृप्त-दृशाम्—दर्शन को पूरा किया; नृणाम्—लोगों का; आदाय—लेकर; अन्तः—अन्तर्धान; अधात्—सम्पन्न किया; यः—जिसने; तु—लेकिन; स्व-बिम्बम्—अपने ही स्वरूप को; लोक-लोचनम्—सार्वजनिक दृष्टि में।

भगवान् श्रीकृष्ण, जिन्होंने पृथ्वी पर सबों की दृष्टि के समक्ष अपना नित्य स्वरूप प्रकट किया था, अपने स्वरूप को उन लोगों की दृष्टि से हटाकर अन्तर्धान हो गये जो वांछित तपस्या न

कर सकने के कारण उन्हें यथार्थ रूप में देख पाने में असमर्थ थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अवितृप्त-दृशाम्* शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भौतिक जगत में बद्धात्माएँ विविध प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगी हुई हैं, किन्तु वे वैसा करने में असफल रही हैं, क्योंकि ऐसे प्रयासों से तुष्ट हो पाना असम्भव है। स्थल पर मछली का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। यदि कोई मछली को पानी से बाहर निकाल कर स्थल पर रख देता है, तो वह सुखी नहीं रह पाती चाहे उसे कितना ही आनन्द क्यों न प्रदान किया जाय। आत्मा परम पुरुष भगवान् के ही सान्निध्य में सुखी रह सकता है, अन्यत्र नहीं। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से उनके पास आध्यात्मिक जगत में *ब्रह्मज्योति* मण्डल में असंख्य वैकुण्ठलोक और उस दिव्य जगत में जीवों के असीम आनन्द के लिए अनन्त व्यवस्था है।

भगवान् स्वयं अपनी उन दिव्य लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए आते हैं, जो विशेष रूप से वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में सम्पन्न की जाती हैं। वे बद्धात्माओं को शाश्वत लोक भगवद्धाम के लिए आकृष्ट करने हेतु प्रकट होते हैं। किन्तु पर्याप्त पुण्य के अभाव में दर्शकगण भगवान् की ऐसी लीलाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिन्होंने पापमार्ग को पूरी तरह लाँघ लिया है, वे ही भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा सकते हैं। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का उद्देश्य प्रत्येक बद्धात्मा को पुण्य मार्ग पर लगाना है। समस्त वर्णों के लिए नियत नियमों का कड़ाई से पालन करने पर मनुष्य सत्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य इत्यादि गुणों को प्राप्त कर सकता है और भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के पद तक उठ सकता है। ऐसी दिव्य दृष्टि से ही मनुष्य की भौतिक लालसाएँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं।

जब भगवान् विद्यमान थे तो जो लोग उन्हें असली रूप में देखने की अपनी भौतिक लालसा पूरी कर सके वे उन के साथ भगवद्धाम वापस जा सके। किन्तु जो लोग भगवान् को यथारूप में नहीं देख पाये वे भौतिक लालसाओं से बद्ध रहे और भगवद्धाम वापस नहीं जा सके। जब भगवान् सबों की दृष्टि से परे चले गये तो उन्होंने अपने आदि नित्य रूप में ऐसा किया जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। उन्होंने सशरीर प्रयाण किया। उन्होंने अपना शरीर छोड़ा नहीं जैसाकि बद्धात्माएँ सामान्य रूप से गलती से समझती हैं। यह कथन उन श्रद्धाविहीन अभक्तों के इस मिथ्या प्रचार को झुठला देता है कि भगवान्

सामान्य बद्धात्मा की तरह दिवगंत हुए। भगवान् इस जगत से अविश्वासी असुरों का अनुचित भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और ऐसा करने के बाद संसार की दृष्टि से ओझल हो गये।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-

मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धैः

परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—उनका जो नित्यरूप; मर्त्य—मर्त्यजगत; लीला-उपयिकम्—लीलाओं के लिए उपयुक्त; स्व-योग-माया-बलम्—अन्तरंगा शक्ति का बल; दर्शयता—अभिव्यक्ति के लिए; गृहीतम्—ढूँढ निकाला; विस्मापनम्—अद्भुत; स्वस्य—अपना; च—तथा; सौभग-ऋद्धेः—ऐश्वर्यवान् का; परम्—परम; पदम्—गन्तव्य; भूषण—आभूषण; भूषण-अङ्गम्—आभूषणों का।

भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति योगमाया के द्वारा मर्त्यलोक में प्रकट हुए। वे अपने नित्य रूप में आये जो उनकी लीलाओं के लिए उपयुक्त है। ये लीलाएँ सबों के लिए आश्चर्यजनक थीं, यहाँ तक कि उन लोगों के लिए भी जिन्हें अपने ऐश्वर्य का गर्व है, जिसमें वैकुण्ठपति के रूप में भगवान् का स्वरूप भी सम्मिलित है। इस तरह उनका (श्रीकृष्ण का) दिव्य शरीर समस्त आभूषणों का आभूषण है।

तात्पर्य : वैदिक स्रोतों के अनुसार—(नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्) भगवान् भौतिक जगत में समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर के अन्य सारे जीवों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। वे समस्त जीवों में प्रधान हैं। धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान अथवा त्याग के क्षेत्र में न तो कोई उनके समकक्ष है न उनसे बढ़कर है। जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में थे तो वे मनुष्य प्रतीत होते थे, क्योंकि वे मर्त्यलोक की अपनी लीलाओं के लिए उपयुक्त रूप में प्रकट हुए थे। वे मानव समाज में अपने चतुर्भुजी वैकुण्ठ स्वरूप में प्रकट नहीं हुए, क्योंकि यह स्वरूप उनकी लीलाओं के उपयुक्त न होता। किन्तु मनुष्य के रूप में प्रकट होते हुए भी कोई व्यक्ति विविध षडैश्वर्यों में से किसी एक में भी न तो उनके तुल्य था, न है। हर व्यक्ति इस जगत में अपने ऐश्वर्य के प्रति न्यूनाधिक गर्वित रहता है, किन्तु जब भगवान् कृष्ण मानव समाज में थे तो वे ब्रह्माण्ड में अपने समस्त समकालीन व्यक्तियों से बढ़कर थे।

जब भगवान् की लीलाएँ मनुष्य को दृष्टिगोचर होती हैं, तो वे प्रकट कहलाती हैं और जब वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं तो अप्रकट कहलाती हैं। वस्तुतः भगवान् की लीलाएँ कभी नहीं रुकतीं जिस तरह

सूर्य कभी आकाश को नहीं छोड़ता। सूर्य सदैव आकाश में सही कक्ष्या पर बना रहता है, किन्तु हमारी सीमित दृष्टि में वह कभी दिखता है, तो कभी ओझल रहता है। इसी तरह भगवान् की लीलाएँ सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में चलती रहती हैं। जब कृष्ण द्वारका के दिव्य धाम से अन्तर्धान हो गये तो यह वहाँ के लोगों की आँखों से उनका ओझल होना था। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनका दिव्य शरीर जो मर्त्यलोक की लीलाओं के लिए उपयुक्त था, वैकुण्ठलोक में उनके विभिन्न अंशों से किसी तरह निकृष्ट था। भौतिक जगत में प्रकट होने वाला उनका शरीर इस बात में सर्वोत्कृष्ट है कि मर्त्यलोक में उनकी लीलाएँ वैकुण्ठलोक में प्रदर्शित उनकी कृपा से बढ़कर हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् मुक्त या *नित्यमुक्त* जीवों के प्रति ही दयालु होते हैं, किन्तु मर्त्य जगत की अपनी लीलाओं में वे उन पतिततात्माओं पर भी दयालु होते हैं, जो *नित्यबद्ध* हैं। मर्त्यलोक में अपनी अन्तरंगा शक्ति या *योगमाया* के द्वारा प्रदर्शित षड् ऐश्वर्य वैकुण्ठलोक तक में दुर्लभ हैं। उनकी समस्त लीलाएँ किसी भौतिक शक्ति द्वारा नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति द्वारा प्रदर्शित की गई थीं। वृन्दावन में उनकी रासलीला की अनुपमता तथा सोलह हजार पत्नियों के साथ उनका गृहस्थ जीवन वैकुण्ठ में नारायण के लिए भी आश्चर्यजनक है और इस मर्त्यलोक के अन्य जीवों के लिए भी निश्चित रूप से ऐसा ही है। उनकी लीलाएँ भगवान् के अन्य अवतारों के लिए भी, यथा श्रीराम, नृसिंह तथा वराह के लिए भी, आश्चर्यजनक हैं। उनका ऐश्वर्य इतना सर्वोत्कृष्ट था कि उनकी लीलाओं की प्रशंसा वैकुण्ठ के स्वामी द्वारा भी की गई जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण से भिन्न नहीं हैं।

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये

निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।

कात्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुर्

अर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो रूप; धर्म-सूनोः—महाराज युधिष्ठिर के; बत—निश्चय ही; राजसूये—राजसूय यज्ञ शाला में; निरीक्ष्य—देखकर; दृक्—दृष्टि; स्वस्त्ययनम्—मनोहर; त्रि-लोकः—तीनों लोक के; कात्स्न्येन—सम्पूर्णतः; च—इस तरह; अद्य—आज; इह—इस ब्रह्माण्ड के भीतर; गतम्—पार करके; विधातुः—स्रष्टा (ब्रह्मा) का; अर्वाक्—अर्वाचीन मानव; सृतौ—भौतिक जगत में; कौशलम्—दक्षता; इति—इस प्रकार; अमन्यत—सोचा ।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न किये गये राजसूय यज्ञ शाला में उच्चतर, मध्य तथा अधोलोकों से सारे देवता एकत्र हुए। उन सबों ने भगवान् कृष्ण के सुन्दर शारीरिक स्वरूप को

देखकर विचार किया कि वे मनुष्यों के स्रष्टा ब्रह्मा की चरम कौशलपूर्ण सृष्टि हैं।

तात्पर्य : जब भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत में वर्तमान थे तो उनके शारीरिक स्वरूप की तुलना करने वाली कोई वस्तु नहीं थी। भौतिक जगत के सुन्दरतम पदार्थ की तुलना नीले कमल से या आकाश में पूर्ण चन्द्रमा से की जा सकती है, किन्तु कमल तथा चन्द्रमा भी कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य के समक्ष पराजित हो जाते थे जिसकी पुष्टि ब्रह्माण्ड के सबसे सुन्दर प्राणियों अर्थात् देवताओं द्वारा की गई। देवताओं ने सोचा कि उन्हीं की तरह भगवान् कृष्ण भी ब्रह्मा द्वारा सृजित हुए हैं। जब कि तथ्य यह है कि ब्रह्मा का सृजन भगवान् कृष्ण द्वारा हुआ। भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का सर्जन करना ब्रह्मा की शक्ति में न था। कोई भी व्यक्ति कृष्ण का स्रष्टा नहीं है, प्रत्युत वे हर एक के स्रष्टा हैं। *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।*

यस्यानुरागप्लुतहासरास-

लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त

धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अनुराग—आसक्ति; प्लुत—वर्धित; हास—हँसी; रास—मजाक, विनोद; लीला—लीलाएँ; अवलोक—चितवन; प्रतिलब्ध—से प्राप्त; मानाः—व्यथित; व्रज-स्त्रियः—व्रज की बालाएँ; दृग्भिः—आँखों से; अनुप्रवृत्त—अनुगमन करती; धियः—बुद्धि द्वारा; अवतस्थुः—चुपचाप बैठ गई; किल—निस्सन्देह; कृत्य-शेषाः—घर का काम काज।

हँसी, विनोद तथा देखादेखी की लीलाओं के पश्चात् व्रज की बालाएँ कृष्ण के चले जाने पर व्यथित हो जातीं। वे अपनी आँखों से उनका पीछा करती थीं, अतः वे हतबुद्धि होकर बैठ जातीं और अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं।

तात्पर्य : वृन्दावन में अपनी बाल्यावस्था में भगवान् कृष्ण समवयस्का सारी बालाओं को दिव्य प्रेमवश छेड़छाड़ करने के लिए प्रख्यात थे। उनके प्रति कृष्ण का प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि उस आनन्द की कोई तुलना नहीं है और व्रज बालाएँ उन पर इतनी अनुरक्त थीं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं के भी स्नेह से बढ़कर उनका स्नेह था। भगवान् कृष्ण ने अन्त में गोपियों के दिव्य स्नेह के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार की और घोषित किया कि वे उनके विशुद्ध स्नेह से कभी उच्छ्रय नहीं हो सकते। यद्यपि गोपियाँ भगवान् के तंग करने के व्यवहार पर व्यथित प्रतीत होती थीं, किन्तु जब कृष्ण

उन्हें छोड़ कर जाते तो वे इस विरह को न सह सकतीं और अपने नेत्रों तथा मन से उनका पीछा करती थीं। वे इस स्थिति से इतनी स्तब्ध हो उठतीं कि वे अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं। युवकों तथा युवतियों के मध्य प्रेम-व्यापार में भी कोई उनसे आगे न बढ़ सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् स्वयं कभी भी वृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं जाते। वे वहाँ के निवासियों के दिव्य प्रेम के वशीभूत होकर निरन्तर वहाँ रहते जाते हैं। इस तरह यद्यपि आज कल वे दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु वे क्षण भर के लिए भी वृन्दावन से दूर नहीं जाते।

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-

रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।

परावरेणो महदंशयुक्तो

ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्व-शान्त-रूपेषु—अपने शान्त भक्तों के प्रति; इतरैः—अन्यों, अभक्तों; स्व-रूपैः—अपने गुणों के अनुसार; अभ्यर्द्यमानेषु—सताए जाकर; अनुकम्पित-आत्मा—सर्वदयामय भगवान्; पर-अवर—आध्यात्मिक तथा भौतिक; ईशः—नियंत्रक; महत्-अंश-युक्तः—महत् तत्त्व अंश के साथ; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अपि—यद्यपि; जातः—उत्पन्न है; भगवान्—भगवान्; यथा—मानो; अग्निः—आग।

आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों के सर्वदयालु नियन्ता भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु जब उनके शान्त भक्तों तथा भौतिक गुणों वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष होता है, तो वे महत् तत्त्व के साथ उसी तरह जन्म लेते हैं जिस तरह अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वभाव से शान्त होते हैं, क्योंकि उनमें कोई भौतिक लालसा नहीं होती। मुक्तात्मा लालसारहित होता है, अतएव उसे शोक नहीं होता। जो व्यक्ति कुछ सम्पत्ति पाना चाहता है, और जब वह उसे खो देता है, तो वह भी शोक करता है। भक्तों में भौतिक सम्पत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक मोक्ष के लिए कोई लालसा नहीं होती। वे कर्तव्य के रूप में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित होते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते कि वे कहाँ हैं अथवा उन्हें किस तरह कार्य करना चाहिए। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी, सभी कुछ न कुछ भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति के लिए लालायित रहते हैं। कर्मीजन भौतिक सम्पत्ति चाहते हैं, ज्ञानी तथा योगीजन आध्यात्मिक सम्पत्ति चाहते हैं, किन्तु भक्तगण कोई भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति नहीं चाहते। वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लोकों में कहीं भी भगवान् की इच्छानुसार केवल उनकी सेवा करना चाहते हैं और भगवान् ऐसे भक्तों के प्रति

सदैव ही विशेषरूप से ही दयालु रहते हैं।

कर्मियों, *ज्ञानियों* तथा *योगियों* की प्रकृति के गुणों में विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, अतएव वे इतर या अभक्त कहलाते हैं। ये इतरजन जिनमें योगी भी सम्मिलित हैं, कभी-कभी भगवद्भक्तों को सताते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष को इसलिए सताया कि वे भगवान् के महान् भक्त थे। महान् कर्मी तथा ज्ञानी हिरण्यकशिपु ने अपने ही वैष्णव पुत्र प्रह्लाद महाराज को सताया। इतरों द्वारा शान्त भगवद्भक्तों के सताये जाने के ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब ऐसा टकराव होता छिड़ता है, तो भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के प्रति महान् कृपा-वश महत् तत्त्व को नियंत्रित करने वाले अपने स्वांशों के साथ साकार रूप में प्रकट होते हैं।

भगवान् सर्वत्र, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगत्‌ओं में हैं और जब उनके भक्तों तथा अभक्तों के बीच संघर्ष छिड़ता है, तो वे अपने भक्तों के लिए प्रकट होते हैं। जिस तरह पदार्थ के घर्षण से कहीं भी बिजली उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण भक्तों तथा अभक्तों के संघर्ष के कारण कहीं भी उत्पन्न होते हैं। जब भगवान् कृष्ण किसी उद्देश्य (मिशन) के लिए प्रकट होते हैं, तो उनके सारे स्वांश उनके साथ होते हैं। जब वे वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो उनके अवतार के विषय में मतभेद था। कुछ ने कहा “वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।” कुछ ने कहा “वे नारायण के अवतार हैं।” दूसरों ने कहा “वे क्षीरोदकशायी विष्णु के अवतार हैं” किन्तु वास्तव में वे आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* तथा नारायण, सारे पुरुष एवं अन्य अवतार, उनकी लीलाओं के विभिन्न अंगों का कार्य करने के लिए उनके साथ आते हैं। *महद्-अंश-युक्तः* यह संकेत देता है कि उनके साथ पुरुष रहते हैं, जो महत् तत्त्व की सृष्टि करते हैं। इसकी पुष्टि इस वैदिक स्तुति *महान्तं विभुमात्मानम्* से होती है।

जब कंस तथा वसुदेव एवं उग्रसेन के बीच टकराव हुआ तो भगवान् कृष्ण बिजली की तरह प्रकट हो गये। वसुदेव तथा उग्रसेन भगवान् के भक्त थे और कंस *कर्मियों* तथा *ज्ञानियों* का प्रतिनिधि अभक्त था। कृष्ण अपने यथारूप में सूर्य के समान हैं। वे सर्वप्रथम देवकी के गर्भरूपी सागर से उदित हुए, धीरे-धीरे उन्होंने मथुरा के निकटवर्ती स्थानों के निवासियों को तुष्ट किया जिस तरह सूर्य प्रातःकाल कमल के फूल को प्रफुल्लित कर देता है। क्रमशः द्वारका के मध्याकाश तक उठकर भगवान् सूर्य की

ही तरह सारी वस्तुओं को अंधकार में छोड़ते हुए अस्त हो गये जैसाकि उद्धव ने वर्णन किया।

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-

विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।

व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं

पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; खेदयति—पीड़ा पहुँचाता है; एतत्—यह; अजस्य—अजन्मा का; जन्म—जन्म; विडम्बनम्—मोहित करना; यत्—जो; वसुदेव-गेहे—वसुदेव के घर में; व्रजे—वृन्दावन में; च—भी; वासः—निवास; अरि—शत्रु के; भयात्—भय से; इव—मानो; स्वयम्—स्वयं; पुरात्—मथुरा पुरी से; व्यवात्सीत्—भाग गया; यत्—जो हैं; अनन्त-वीर्यः—असीम बलशाली।

जब मैं भगवान् कृष्ण के बारे में सोचता हूँ कि वे अजन्मा होते हुए किस तरह वसुदेव के बन्दीगृह में उत्पन्न हुए थे, किस तरह अपने पिता के संरक्षण से व्रज चले गये और वहाँ शत्रु-भय से प्रच्छन्न रहते रहे तथा किस तरह असीम बलशाली होते हुए भी वे भयवश मथुरा से भाग गये—ये सारी भ्रमित करने वाली घटनाएँ मुझे पीड़ा पहुँचाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि श्रीकृष्ण आदि पुरुष हैं जिनसे सारी वस्तुएँ और सारे जीव उद्भूत हुए हैं—अहं सर्वस्य प्रभवः (भगवद्गीता १०.८), जन्माद्यस्य यतः (वेदान्त सूत्र १.१.२) अतएव उनके तुल्य या उनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं हो सकती। भगवान् परम पूर्ण हैं और जब भी वे पुत्र, प्रतिद्वन्दी या शत्रुवत् अपनी दिव्यलीला करते हैं, तो वे अपनी भूमिका इतनी पूर्णता से निभाते हैं कि उद्धव जैसे शुद्ध भक्त भी मोहग्रस्त हो उठते हैं। उदाहरणार्थ, उद्धव यह भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्ण नित्य विद्यमान रहते हैं और वे सदा के लिए कभी न तो मर सकते हैं न विलुप्त हो सकते हैं फिर भी वे कृष्ण के लिए शोक कर रहे थे। ये सारी घटनाएँ उनके परम यश को पूर्णता प्रदान करने के लिए मानो पूर्ण व्यवस्थाएँ हैं। यह सब आनन्द के निमित्त है। जब पिता अपने नन्हें बेटे के साथ खेलता है और वह जमीन पर लेट जाता है मानो बेटे द्वारा पराजित हो गया हो तो यह केवल उस नन्हें बेटे को आनन्द प्रदान करने के लिए है और कुछ नहीं। चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे जन्म-अजन्म, शक्ति तथा पराजय, भय तथा अभय जैसे विलोमों को समंजित कर सकते हैं। एक शुद्ध भक्त भली भाँति जानता है कि भगवान् के लिए विरोधाभासों को समंजित करना कैसे सम्भव है, किन्तु वह उन अभक्तों के लिए शोक करता है, जो भगवान् के परम यशों को न जानते हुए उन्हें इसलिए काल्पनिक सोचते हैं क्योंकि शास्त्रों

में ऊपरी तौर पर अनेक विरोधी कथन पाये जाते हैं। वस्तुतः कुछ भी विरोध-मूलक नहीं है। जब हम भगवान् को भगवान् के रूप में समझ लेते हैं और अपूर्णताओं से युक्त अपने समान उन्हें नहीं मानते, तो सब कुछ सम्भव हो जाता है।

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
 यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
 ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
 प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दुनोति—मुझे पीड़ा पहुँचाता है; चेतः—हृदय; स्मरतः—सोचते हुए; मम—मेरा; एतत्—यह; यत्—जितना; आह—कहा; पादौ—चरणों की; अभिवन्द्य—पूजकर; पित्रोः—माता-पिता के; तात—हे पिता; अम्ब—हे माता; कंसात्—कंस से; उरु—महान्; शङ्कितानाम्—भयभीतों का; प्रसीदतम्—प्रसन्न हों; नः—हमारा; अकृत—सम्पन्न नहीं हुआ; निष्कृतीनाम्—आपकी सेवा करने के कर्तव्य।

भगवान् कृष्ण ने अपने माता-पिता से उनके चरणों की सेवा न कर पाने की अपनी (कृष्ण तथा बलराम की) अक्षमता के लिए क्षमा माँगी, क्योंकि कंस के विकट भय के कारण वे घर से दूर रहते रहे। उन्होंने कहा, “हे माता, हे पिता, हमारी असमर्थता के लिए हमें क्षमा करें।” भगवान् का यह सारा आचरण मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचाता है।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि कृष्ण तथा बलराम दोनों ही कंस से अत्यधिक भयभीत थे, इसीलिए उन्हें अपने आपको छिपा कर रखना पड़ा। किन्तु यदि कृष्ण तथा बलराम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे कंस से भयभीत थे? क्या ऐसे कथनों में कोई विरोध है? वसुदेव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि कृष्ण परमेश्वर हैं और वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकते हैं। उन्होंने कृष्ण को अपना पुत्र समझा। चूँकि वसुदेव महाभागवत थे, अतएव वे यह सोचना नहीं चाहते थे कि कृष्ण उनके अन्य पुत्रों की तरह मार डाले जाएँ। नैतिक दृष्टि से वसुदेव कृष्ण को कंस के हाथों सौंपने के लिए वचनबद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सारी सन्तानें उसे दे देने का वचन दिया था। किन्तु कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम के कारण उन्होंने अपना वचन तोड़ा। वसुदेव की इस दिव्य मनोवृत्ति पर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न थे। वे वसुदेव के अगाध स्नेह को विचलित नहीं करना चाहते थे, अतएव उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द तथा यशोदा के घर ले जाया जाना स्वीकार कर लिया। फिर वसुदेव के प्रगाढ़ प्रेम की परीक्षा करने के लिए ही जब

उनके पिता नदी पार कर रहे थे तो भगवान् कृष्ण यमुना के जल में गिर पड़े थे तब वसुदेव अपने पुत्र को उफनती नदी के बीच में फिर से पा लेने के प्रयास में बावले हो गये थे।

ये सब भगवान् की महिमामण्डित लीलाएँ हैं और ऐसे प्रदर्शन में कोई विरोधाभास नहीं है। चूँकि कृष्ण परमेश्वर हैं, अतएव वे कंस से कभी भी भयभीत नहीं थे, किन्तु अपने पिता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया। उनके परम चरित्र का सबसे यशस्वी अंश यह था कि उन्होंने अपने माता-पिता से इसके लिए क्षमा माँगी कि कंस के भय से घर से अनुपस्थित रहने के कारण वे उनके चरणों की सेवा नहीं कर सके। वे भगवान्, जिनके चरणकमलों की पूजा ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा की जाती है, वसुदेव के चरणों की पूजा करना चाहते थे। भगवान् द्वारा विश्व को दिया गया ऐसा उपदेश अत्यन्त उपयुक्त है। चाहे कोई भगवान् ही क्यों न हो उसे अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। पुत्र अनेक प्रकार से अपने माता-पिता का ऋणी होता है और पुत्र चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे। अप्रत्यक्ष रूप से, कृष्ण उन नास्तिकों को, जो ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार नहीं करते, शिक्षा देना चाहते थे और वे इस कार्य से यह सीख सकते हैं कि परम पिता का कितना अधिक सम्मान किया जाना चाहिए। उद्धव भगवान् के ऐसे यशस्वी आचरण पर आश्चर्यचकित थे और वे अत्यन्त दुखी थे कि वे उनके साथ क्यों नहीं कूच कर सके।

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान्विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; वा—अथवा; अमुष्य—भगवान् के; अङ्घ्रि—पाँव; सरोज-रेणुम्—कमल की धूल; विस्मर्तुम्—भुलाने के लिए; ईशीत—समर्थ हो सके; पुमान्—मनुष्य; विजिघ्रन्—सूँघते हुए; यः—जो; विस्फुरत्—विस्तार करते हुए; भ्रू-विटपेन—भौहों की पत्तियों के द्वारा; भूमेः—पृथ्वी का; भारम्—भार; कृत-अन्तेन—मृत्यु प्रहारों से; तिरश्चकार—सम्पन्न किया।

भला ऐसा कौन होगा जो उनके चरणकमलों की धूल को एकबार भी सूँघ कर उसे भुला सके? कृष्ण ने अपनी भौहों की पत्तियों को विस्तीर्ण करके उन लोगों पर मृत्यु जैसा प्रहार किया है, जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को मनुष्य नहीं माना जा सकता, भले ही उन्होंने आज्ञाकारी पुत्र की भूमिका ही क्यों न निबाही हो। उनके कार्य इतने असामान्य थे कि केवल अपनी भौंहों को उठाकर वे उन लोगों पर मृत्यु-प्रहार कर सके जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

दृष्टा भवद्विर्ननु राजसूये
 चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
 यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
 योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा—देखी गयी; भवद्विः—आपके द्वारा; ननु—निस्सन्देह; राजसूये—महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ की सभा में; चैद्यस्य—चेदिराज (शिशुपाल) के; कृष्णम्—कृष्ण के प्रति; द्विषतः—ईर्ष्या से; अपि—के बावजूद; सिद्धिः—सफलता; याम्—जो; योगिनः—योगीजन; संस्पृहयन्ति—तीव्रता से इच्छा करते हैं; सम्यक्—पूर्णरूपेण; योगेन—योग द्वारा; कः—कौन; तत्—उनका; विरहम्—विच्छेद; सहेत—सहन कर सकता है।

आप स्वयं देख चुके हैं कि चेदि के राजा (शिशुपाल) ने किस तरह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त की यद्यपि वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता था। वास्तविक योगी भी अपने विविध अभ्यासों द्वारा ऐसी सफलता की सुरुचिपूर्वक कामना करते हैं। भला उनके विछोह को कौन सह सकता है ?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा का प्राकट्य महाराज युधिष्ठिर की विराट सभा में हुआ। वे अपने शत्रु चेदि के राजा पर भी कृपालु थे, जो सदैव भगवान् का ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी बनने का प्रयास करता रहा। चूँकि भगवान् का प्रामाणिक प्रतिद्वन्द्वी बनना सम्भव नहीं है, अतः चेदि का राजा भगवान् कृष्ण का अत्यधिक द्रोही था। इस बात में वह अन्य असुरों यथा कंस तथा जरासंध की ही तरह था। शिशुपाल ने महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न होने वाले राजसूय यज्ञ की खुली सभा में भगवान् कृष्ण का अपमान किया और अन्त में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। किन्तु उस सभा के हर व्यक्ति ने देखा कि चेदि के राजा के शरीर से प्रकाश की एक किरण निकली जो भगवान् कृष्ण के शरीर में लीन हो गई। इसका अर्थ हुआ कि चेदिराज को सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई जिसकी तीव्र इच्छा ज्ञानियों तथा योगियों को रहती है और जिसके लिए वे अनेक प्रकार के दिव्य कार्य सम्पन्न करते हैं।

यह तथ्य है कि जो लोग मानसिक चिन्तन, या योग शक्तियों के निजी प्रयासों द्वारा परब्रह्म को समझने का प्रयास कर रहे हैं उन्हें वही लक्ष्य प्राप्त होता है, जो उन लोगों को प्राप्त होता है जिनका

वध स्वयं भगवान् द्वारा किया जाता है। दोनों ही को भगवान् के दिव्य शरीर की ब्रह्मज्योति की किरणों में तादात्म्य होने की मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान् अपने शत्रु पर भी कृपालु थे और चेदिराज की सफलता उन सबों द्वारा देखी गई जो सभा में उपस्थित थे। विदुर भी वहाँ उपस्थित थे, इसीलिए उद्धव ने इस घटना का स्मरण कराया।

तथैव चान्ये नरलोकवीरा

य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।

नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं

पार्थास्त्रपूतः पदमापुरस्य ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—भी; एव च—तथा निश्चय ही; अन्ये—अन्य; नर-लोक—मानव समाज; वीराः—योद्धा; ये—जो; आहवे—युद्धभूमि (कुरुक्षेत्र की) में; कृष्ण—भगवान् कृष्ण का; मुख-अरविन्दम्—कमल के फूल जैसा मुँह; नेत्रैः—नेत्रों से; पिबन्तः—देखते हुए; नयन-अभिरामम्—आँखों को अतीव अच्छा लगने वाले; पार्थ—अर्जुन के; अस्त्र-पूतः—बाणों से शुद्ध हुआ; पदम्—धाम; आपुः—प्राप्त किया; अस्य—उनका।

निश्चय ही कुरुक्षेत्र युद्धस्थल के अन्य योद्धागण अर्जुन के बाणों के प्रहार से शुद्ध बन गये और आँखों को अति मनभावन लगने वाले कृष्ण के कमल-मुख को देखकर उन्होंने भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत में दो उद्देश्यों से प्रकट होते हैं—श्रद्धावानों का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने, किन्तु परम पूर्ण होने से भगवान् के ये दो प्रकार के कार्य भले ही ऊपर से भिन्न लगें, किन्तु अन्ततः एक ही होते हैं। शिशुपाल जैसे व्यक्ति का उनके द्वारा संहार किया जाना उतना ही शुभ है जितना कि श्रद्धावान की रक्षा के लिए किया जानेवाला कार्य। उन सारे योद्धाओं ने, जिन्होंने अर्जुन के विरुद्ध युद्ध किया था, किन्तु युद्धभूमि में भगवान् के कमलवत् मुख का दर्शन किया था, उसी तरह भगवद्धाम प्राप्त किया जिस तरह भगवान् के भक्त प्राप्त करते हैं। “द्रष्टा की आँखों को अच्छा लगने वाले” ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जब युद्धभूमि के दूसरे पक्ष के योद्धाओं ने भगवान् कृष्ण को सामने से देखा तो उन्होंने उनके सौन्दर्य को सराहा और ईश्वर के प्रति उनकी सुसुप्त भावना जागृत हो उठी। शिशुपाल ने भी भगवान् को देखा, किन्तु उसने उन्हें अपने शत्रु के रूप में देखा जिससे उसका प्रेम जागृत नहीं हुआ। इसलिए शिशुपाल ने भगवान् के शरीर की निर्विशेष ज्योति, ब्रह्मज्योति में लीन होकर भगवान् से तादात्म्य प्राप्त किया। अन्य लोगों को जो तटस्थ थे, जो न

तो मित्र थे न शत्रु, किन्तु भगवान् के मुख के सौन्दर्य को सराहने के कारण यत्किंचित भगवान् के प्रेम में थे, उन्हें तुरन्त वैकुण्ठलोक भेज दिया गया। भगवान् का निजी धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वे धाम, जहाँ उनके स्वांश निवास करते हैं वैकुण्ठलोक कहलाते हैं जहाँ भगवान् नारायण रूप में विद्यमान रहते हैं। हर जीव में भगवत्प्रेम प्रसुप्त रहता है और भगवान् की भक्ति की समूची विधि इस प्रसुप्त नित्य भगवत्प्रेम को जागृत करने के लिए होती है। किन्तु ऐसी दिव्य जागृति की कोटियाँ होती हैं। जिन लोगों में भगवत्प्रेम पूरी तरह जागृत हुआ रहता है वे आध्यात्मिक आकाश में गोलोक वृन्दावन लोक जाते हैं, किन्तु जिन लोगों में संयोगवश या संगति के द्वारा भगवत्प्रेम ठीक से जागृत हुआ होता है वे वैकुण्ठलोक भेज दिये जाते हैं। तात्त्विक दृष्टि से गोलोक तथा वैकुण्ठ में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा असीम ऐश्वर्य द्वारा की जाती है, जबकि गोलोक में उनकी सेवा सहज स्नेह भाव में की जाती है।

यह भगवत्प्रेम भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से जागृत होता है। यहाँ पर *पार्थास्त्र-पूतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखी थी, उन्हें पहले अर्जुन ने अपने बाणों के प्रहार से शुद्ध बना दिया था। भगवान् संसार का भार हल्का करने के उद्देश्य से प्रकट हुए थे और अर्जुन उनकी ओर से युद्ध करके उनकी सहायता कर रहे थे। अर्जुन ने व्यक्तिगत रूप से युद्ध करने से इनकार कर दिया था और अर्जुन को युद्ध में लगाने के लिए *भगवद्गीता* का सम्पूर्ण उपदेश दिया गया था। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने अपने निर्णय के समक्ष इसे वरीयता देते हुए युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह अर्जुन ने संसार के भार को कम करने के भगवान् के उद्देश्य में सहायक बनने के लिए युद्ध किया। शुद्ध भक्त द्वारा सारे कार्य भगवान् की ओर से सम्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् के शुद्ध भक्त के पास करने के लिए निजी कुछ भी नहीं रहता। अर्जुन द्वारा संहार किया जाना स्वयं भगवान् द्वारा किये जाने वाले संहार के तुल्य था। ज्योंही अर्जुन किसी शत्रु पर बाण चलाते, वह शत्रु सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध बनकर वैकुण्ठ जाने का पात्र बन जाता। जिन योद्धाओं ने भगवान् के चरणकमलों की प्रशंसा की तथा सामने से भगवान् के मुख को देखा उनमें सुप्त भगवत्प्रेम जाग उठा और इस तरह वे लोग शिशुपाल की ही तरह ब्रह्मज्योति की निर्विशेष दशा में नहीं, अपितु सीधे, वैकुण्ठलोक भेज दिये गये। शिशुपाल भगवान् की प्रशंसा किये बिना मर गया, किन्तु

अन्य लोग भगवान् की प्रशंसा करके मरे थे। दोनों ही को आध्यात्मिक आकाश में भेज दिया गया, किन्तु जिनमें भगवत्प्रेम जागृत हो चुका था वे दिव्य आकाश के लोकों में भेज दिये गये।

उद्धव ऊपर से शोक कर रहे थे कि उनका अपना पद कुरुक्षेत्र युद्धभूमि के योद्धाओं से भी न्यून है, क्योंकि उन लोगों को तो वैकुण्ठलोक मिल चुका था, जबकि उद्धव भगवान् के तिरोधान का शोक ही करते रह गये।

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः

स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।

बलिं हरद्विश्रिरलोकपालैः

किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; तु—लेकिन; असाम्य—अद्वितीय; अतिशयः—महत्तर; त्रि-अधीशः—तीन का स्वामी; स्वाराज्य—स्वतंत्र सत्ता; लक्ष्मी—सम्पत्ति; आप्त—प्राप्त किया; समस्त-कामः—सारी इच्छाएँ; बलिम्—पूजा की साज सामग्री; हरद्विः—प्रदत्त; चिर-लोक-पालैः—सृष्टि की व्यवस्था को नित्य बनाये रखने वालों द्वारा; किरीट-कोटि—करोड़ों मुकुट; एडित-पाद-पीठः—स्तुतियों द्वारा सम्मानित पाँव।

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त त्रयियों के स्वामी हैं और समस्त प्रकार के सौभाग्य की उपलब्धि के द्वारा स्वतंत्र रूप से सर्वोच्च हैं। वे सृष्टि के नित्य लोकपालों द्वारा पूजित हैं, जो अपने करोड़ों मुकुटों द्वारा उनके पाँवों का स्पर्श करके उन्हें पूजा की साज-सामग्री अर्पित करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त उदार तथा कृपालु हैं जैसाकि ऊपर के श्लोकों में बतलाया गया है, फिर भी वे समस्त त्रयियों के स्वामी हैं। वे तीन लोकों, प्रकृति के तीन गुणों तथा तीन पुरुषों (कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदकशायी विष्णु) के स्वामी हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और इनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के विभिन्न स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त, शेषमूर्ति भी हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डों को अपने फनों पर धारण करते हैं। भगवान् कृष्ण इन सबों के स्वामी हैं। मनु के अवतार रूप में वे असंख्य ब्रह्माण्डों में समस्त मनुओं के आदि स्रोत हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ५,०४,००० मनु होते हैं। भगवान् तीन प्रधान शक्तियों—चितशक्ति, मायाशक्ति तथा तटस्थशक्ति के स्वामी हैं और वे षडैश्वर्यो—धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य—के समग्रस्वामी हैं। ऐसा अन्य कोई नहीं जो भोग की किसी बात में उनसे बढ़कर हो और उनसे बड़ा तो कोई है ही नहीं। कोई उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं है। हर व्यक्ति चाहे वह जो भी हो तथा जहाँ भी हो, उसका यह कर्तव्य है कि पूरी

तरह उनकी शरण ग्रहण करे। अतएव यह आश्चर्यजनक नहीं है कि सारे लोकपाल उनके शरणागत बनकर उन्हें पूजा की सारी वस्तुएँ अर्पित करते हैं।

तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भूतान्नो
विगलापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तस्य—उसकी; कैङ्कर्यम्—सेवा; अलम्—निस्सन्देह; भूतान्—सेवकों को; नः—हम; विगलापयति—पीड़ा देती है; अङ्ग—हे विदुर; यत्—जितनी कि; उग्रसेनम्—राजा उग्रसेन को; तिष्ठन्—बैठे हुए; निषण्णम्—सेवा में खड़े; परमेष्ठि-धिष्ये—राजसिंहासन पर; न्यबोधयत्—निवेदन किया; देव—मेरे प्रभु को सम्बोधित करते हुए; निधारय—आप जान लें; इति—इस प्रकार।

अतएव हे विदुर, क्या उनके सेवकगण हम लोगों को पीड़ा नहीं पहुँचती जब हम स्मरण करते हैं कि वे (भगवान् कृष्ण) राजसिंहासन पर आसीन राजा उग्रसेन के समक्ष खड़े होकर, “हे प्रभु, आपको विदित हो कि” यह कहते हुए सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते थे।

तात्पर्य : अपने तथाकथित गुरुजनों, यथा अपने पिता, बाबा तथा ज्येष्ठ भाई, के समक्ष भगवान् कृष्ण का भद्र व्यवहार, अपनी तथाकथित पत्नियों, मित्रों तथा समसामयिकों के साथ मिलनसार आचरण, अपनी माता यशोदा के समक्ष शिशु रूप में उनका व्यवहार तथा अपनी तरुणी सखियों के प्रति उनका नटखट व्यवहार, उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को मोहित नहीं कर सकता। अन्य लोग जो कि भक्त नहीं हैं, मनुष्य जैसा आचरण करने वाले भगवान् के ऐसे व्यवहार से मोहित हो उठते हैं। भगवान् ने स्वयं भगवद्गीता (९.११) में ऐसे मोह की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।

अल्पज्ञ व्यक्ति भगवान् कृष्ण के इस उच्च पद को कि वे हर वस्तु के स्वामी हैं, न जानते हुए भगवान् को कम महत्त्व का बताते हैं। भगवद्गीता में भगवान् ने अपने पद की स्पष्टतया व्याख्या की है, किन्तु आसुरी नास्तिक अध्येता अपने निजी उद्देश्य से मनमानी व्याख्या निकाल लेता है और अभागे अनुयायियों को उसी मनोवृत्ति में भटकाता बनाता है। ऐसे अभागे व्यक्ति ज्ञान के महान् ग्रंथ में से मात्र कुछ नारे चुन लेते हैं, किन्तु भगवान् का सही आकलन करने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु उद्धव जैसे

शुद्ध भक्त कभी भी ऐसे नास्तिक अवसरवादियों द्वारा गुमराह नहीं बनाये जा सकते ।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं

जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।

लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं

कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; बकी—असुरिनी (पूतना); यम्—जिसको; स्तन—अपने स्तन में; काल—घातक; कूटम्—विष; जिघांसया—ईर्ष्यावश; अपाययत्—पिलाया; अपि—यद्यपि; असाध्वी—कृतघ्न; लेभे—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य; धात्री-उचिताम्—धाई के उपयुक्त; ततः—जिसके आगे; अन्यम्—दूसरा; कम्—अन्य कोई; वा—निश्चय ही; दयालुम्—कृपालु; शरणम्—शरण; व्रजेम—ग्रहण करूँगा ।

ओह, भला मैं उनसे अधिक दयालु किसी और की शरण कैसे ग्रहण करूँगा जिन्होंने उस असुरिनी (पूतना) को माता का पद प्रदान किया, यद्यपि वह कृतघ्न थी और उसने अपने स्तन से पिलाए जाने के लिए घातक विष तैयार किया था ?

तात्पर्य : यहाँ पर अपने शत्रु पर भी भगवान् की चरम कृपा का उदाहरण मिलता है । कहा जाता है कि नेक पुरुष संदिग्ध चरित्र वाले व्यक्ति के भी सद्गुणों को स्वीकार करता है, जिस तरह विष के आगार से अमृत ले लिया जाता है । कृष्ण को बाल्यकाल में पूतना नामक असुरिनी ने घातक विष पिलाया था, क्योंकि वह इस अद्भुत शिशु को मार डालना चाहती थी । चूँकि वह असुरिनी थी, इस कारण से उसके लिए यह जान पाना असम्भव था कि भगवान् शिशु की भूमिका निभाते हुए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से कम न थे । अपनी भक्त यशोदा को प्रसन्न करने के लिए उनका शिशु बनने से भगवान् का मान घटा नहीं । भगवान् चाहे शिशु का रूप धारण करें या मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई रूप धारण करें, इससे तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता । वे सदैव वही ब्रह्म बने रहते हैं । कोई सजीव प्राणी अपनी कठिन तपस्या के बल पर कितना ही शक्तिशाली क्यों न बन जाए किन्तु वह कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता ।

भगवान् कृष्ण ने पूतना का मातृत्व स्वीकार किया, क्योंकि उसने स्नेहिल माता का स्वाँग करते हुए कृष्ण को अपना स्तन पीने दिया । भगवान् जीव की न्यूनतम योग्यता स्वीकार करते हैं और उसे सबसे बड़ा पुरस्कार प्रदान करते हैं । उनके चरित्र का यही मानदण्ड है । अतएव भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कौन परम आश्रय हो सकता है ?

मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे
 संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
 ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
 मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं सोचता हूँ; असुरान्—असुरों को; भागवतान्—महान् भक्तों को; त्रि-अधीशे—तीन के स्वामी को; संरम्भ—शत्रुता; मार्ग—मार्ग से होकर; अभिनिविष्ट-चित्तान्—विचारों में मग्न; ये—जो; संयुगे—युद्ध में; अचक्षत—देख सका; तार्क्ष्य-पुत्रम्—भगवान् के वाहन गरुड़ को; अंसे—कन्धे पर; सुनाभ—चक्र; आयुधम्—हथियार धारण करनेवाला; आपतन्तम्—सामने आता हुआ।

मैं उन असुरों को जो भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखते हैं, भक्तों से बढ़कर मानता हूँ, क्योंकि शत्रुता के भावों से भरे वे सभी युद्ध करते हुए भगवान् को तार्क्ष्य (कश्यप) पुत्र गरुड़ के कन्धों पर बैठे तथा अपने हाथ में चक्रायुध लिए देख सकते हैं।

तात्पर्य : जिन असुरों ने भगवान् से आमने-सामने युद्ध किया, उन्होंने भगवान् द्वारा मारे जाने के कारण मोक्ष प्राप्त किया। असुरों का यह मोक्ष उनके भगवद्भक्त होने के कारण नहीं है, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा के परिणामस्वरूप है। जो कोई भगवान् के तनिक भी सम्पर्क में आता है, वह भगवान् की सर्वोत्कृष्टता के कारण मोक्ष तक का महानतम लाभ पा लेता है। वे इतने दयालु हैं कि अपने शत्रुओं तक को मोक्ष प्रदान करते हैं, क्योंकि वे लोग उनके सम्पर्क में आते हैं और अपने शत्रुवत् विचारों के कारण अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् में लीन रहते हैं। वस्तुतः असुरगण कभी भी भक्तों के तुल्य नहीं हो सकते, किन्तु उद्धव विछोह-भावना के कारण उस तरह से सोच रहे थे। वे सोच रहे थे कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में हो सकता है कि वे भगवान् को अपने समक्ष न देख सकें जिन्हें देखने का अवसर असुरों तक को मिला था। तथ्य तो यह है कि जो भक्त सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर उन्हें आध्यात्मिक लोकों में भेजे जाने से वे असुरों की अपेक्षा लाखों गुना अधिक पुरस्कृत होते हैं जहाँ वे भगवान् के साथ नित्य आनन्दमय जीवन बिताते हैं। असुरों तथा निर्विशेषवादियों को भगवान् की ब्रह्मज्योति में लीन होने की सुविधा प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को आध्यात्मिक लोक में प्रवेश करने दिया जाता है। तुलना के लिए आकाश में तैरत रहने और आकाश के किसी लोक में निवास करने में जो अन्तर है उसकी कल्पना की जा सकती है। इन लोकों में जीवों का आनन्द उनकी तुलना में अधिक होता है जिनके कोई शरीर नहीं होता (अशरीरी) और जो

सूर्य की किरणों के अणुओं में लीन हो जाते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा निर्विशेषवादियों पर अपने शत्रुओं की अपेक्षा अधिक कृपा नहीं की जाती, प्रत्युत दोनों ही आध्यात्मिक मोक्ष के समान स्तर पर होते हैं।

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।

चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवस्य—वसुदेव की पत्नी के; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; जातः—उत्पन्न; भोज-इन्द्र—भोजों के राजा के; बन्धने—बन्दीगृह में; चिकीर्षुः—करने के लिए; भगवान्—भगवान्; अस्याः—पृथ्वी का; शम्—कल्याण; अजेन—ब्रह्म द्वारा; अभियाचितः—याचना किये जाने पर।

पृथ्वी पर कल्याण लाने के लिए ब्रह्मा द्वारा याचना किये जाने पर भगवान् श्री कृष्ण को भोज के राजा के बन्दीगृह में वसुदेव ने अपनी पत्नी देवकी के गर्भ से उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोभाव में कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु भक्तगण सामान्यतया उनके तिरोभाव के विषय में चर्चा नहीं करते। विदुर ने उद्धव से कृष्णकथा सुनाने के लिए आग्रह करके भगवान् के तिरोधान की घटना के विषय में उद्धव से अप्रत्यक्ष रूप से पूछा। अतः उद्धव ने भोजों के राजा कंस के मथुरा बन्दीगृह में वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में उनके आविर्भाव से कथा कहनी प्रारम्भ की। इस जगत में भगवान् के लिए कोई काम नहीं है, किन्तु जब ब्रह्मा जैसे भक्तों द्वारा उनसे अनुरोध किया जाता है, तो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कल्याण हेतु पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। भगवद्गीता (४.८) में इसका उल्लेख हुआ है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।

ततो नन्दब्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।

एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नन्द-ब्रजम्—नन्द महाराज के चरागाहों में; इतः—पाले-पोषे जाकर; पित्रा—अपने पिता द्वारा; कंसात्—कंस से; विबिभ्यता—भयभीत होकर; एकादश—ग्यारह; समाः—वर्ष; तत्र—वहाँ; गूढ-अर्चिः—प्रच्छन्न अग्नि; स-बलः—बलराम सहित; अवसत्—रहे।

तत्पश्चात् कंस से भयभीत होकर उनके पिता उन्हें नन्द महाराज के चरागाहों में ले आये जहाँ

वे अपने बड़े भाई बलदेव सहित ढकी हुई अग्नि की तरह ग्यारह वर्षों तक रहे।

तात्पर्य : प्रकट होते ही भगवान् को मार डालने के कंस के संकल्प के भय से उन्हें नन्द महाराज के घर भेज देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह असुरों का ही कार्य होता है कि भगवान् को मार डालने का प्रयास करें या सभी प्रकार से यह सिद्ध करें कि ईश्वर नहीं है या कि कृष्ण सामान्य मनुष्य हैं और वे ईश्वर नहीं हैं। भगवान् कृष्ण कंस जैसे व्यक्तियों के ऐसे संकल्प से तनिक भी प्रभावित नहीं होते, किन्तु शिशु की भूमिका के निर्वाह हेतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द महाराज के चरागाहों तक ले जाया जाना स्वीकार किया, क्योंकि वसुदेव कंस से भयभीत थे। महाराज नन्द को अपने पुत्र रूप में उन्हें प्राप्त करना ही था और यशोदा माई को भी भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना था, इसलिए सबों की इच्छापूर्ति हेतु कंस के बंदीगृह में उनके आविर्भाव के तुरन्त बाद उन्हें मथुरा से वृन्दावन ले जाया गया। वे वहाँ ग्यारह वर्षों तक रहे और उन्होंने अपने बड़े भाई तथा अपने प्रथम अंश बलदेव के साथ बाल्यकाल, कुमारावस्था तथा किशोरावस्था की मनोहारी लीलाएँ पूरी कीं। कंस के क्रोध से कृष्ण की रक्षा करने का वसुदेव का विचार दिव्य सम्बन्ध का एक अंश है। भगवान् को तब अधिक आनन्द प्राप्त होता है जब कोई व्यक्ति उन्हें अपने अधीनस्थ पुत्र के रूप में स्वीकार करता है, जिसे पिता के संरक्षण की आवश्यकता होती है अपेक्षा इसके कि कोई उन्हें भगवान् रूप में स्वीकार करे। वे सबों के पिता हैं और सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जब उनका भक्त यह मान लेता है कि भगवान् को भक्त की देखरेख में रहकर सुरक्षा प्राप्त करनी है, तो इससे उन्हें दिव्य हर्ष होता है। अतएव जब कंस के भय से वसुदेव उन्हें वृन्दावन ले गये तो भगवान् को आनन्द प्राप्त हुआ अन्यथा उन्हें कंस से या अन्य किसी से कोई भय नहीं था।

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन्व्यहरद्विभुः ।

यमुनोपवने कूजद्विद्वजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

परीतः—घिरे; वत्सपैः—ग्वालबालों से; वत्सान्—बछड़ों को; चारयन्—चराते हुए; व्यहरत्—विहार का आनन्द लिया; विभुः—सर्वशक्तिमान; यमुना—यमुना नदी; उपवने—तट के बगीचे में; कूजत्—शब्दायमान; द्विज—पक्षी; सङ्कुलित—सघन; अङ्घ्रिपे—वृक्षों में।

अपने बाल्यकाल में सर्वशक्तिमान भगवान् ग्वालबालों तथा बछड़ों से घिरे रहते थे। इस

तरह वे यमुना नदी के तट पर सघन वृक्षों से आच्छादित तथा चहचहाते पक्षियों की ध्वनि से पूरित बगीचों में विहार करते थे।

तात्पर्य : नन्द महाराज कंस के भूमिधर थे, किन्तु जाति से वैश्य होने के कारण उन्होंने हजारों गौवें पाल रखी थीं। वैश्यों का कर्तव्य है कि गौवों को सुरक्षा प्रदान करें जिस तरह क्षत्रियों को मनुष्यों को सुरक्षा प्रदान करनी होती है। चूँकि भगवान् बालक थे, इसीलिए उन्हें अन्य ग्वालमित्रों के साथ बछड़ों को चराने का भार सौंप दिया गया था। ये ग्वालबाल अपने पूर्वजन्म में महर्षि तथा योगी थे और ऐसे अनेक पवित्र जन्मों के बाद उन्हें भगवान् की संगति प्राप्त हुई थी जिससे वे उनके साथ समान स्तर पर खेल सकते थे। ऐसे ग्वालबालों ने यह जानने की कभी परवाह नहीं की कि कृष्ण कौन हैं, किन्तु वे अत्यन्त घनिष्ठ तथा प्रिय मित्र के रूप में उनके साथ खेलते थे। वे भगवान् को इतना चाहते थे कि रात में भी वे यही सोचते कि कब भोर हो और वे भगवान् से मिलकर एकसाथ गौवें चराने जंगल जाँए।

यमुना के किनारे के सारे जंगल सुन्दर बगीचे थे, जो आम, कटहल, सेब, अमरूद, नारंगी, अंगूर, बेर, ताड़फल के पेड़ों तथा अन्य कई पौधों और सुगन्धित पुष्पों से भरे पड़े थे। चूँकि यह जंगल यमुना के तट पर था, अतएव स्वाभाविक है कि यहाँ बत्तख, सारस तथा वृक्षों की शाखाओं पर मोर होते। ये सारे वृक्ष तथा पक्षी एवं पशु पवित्र जीव थे, जो वृन्दावन के दिव्य धाम में भगवान् को एवं उनके नित्य संगी ग्वालबालों को आनन्द प्रदान करने के लिए थे।

भगवान् ने अपने संगियों के साथ छोटे शिशु की तरह खेलते हुए अघासुर, बकासुर, प्रलम्बासुर तथा गर्दभासुर असुरों का वध किया। यद्यपि वे वृन्दावन में एक बालक रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु वास्तव में वे अग्नि की ढकी हुई लपटों के तुल्य थे। आग की एक चिनगारी ईंधन से मिलकर भीषण अग्नि उत्पन्न कर सकती है; उसी तरह भगवान् ने नन्द महाराज के घर में अपने बाल्यकाल से ही आरम्भ करके इन सभी महान् असुरों का वध किया। भगवान् के बाल्यकाल की क्रीडास्थली वृन्दावन की भूमि आज भी है और जो कोई भी इन स्थानों में जाता है, वह वही दिव्य आनन्द पाता है, यद्यपि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों को सदेह दृष्टिगोचर नहीं होते। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की इस भूमि को भगवान् से अभिन्न बतलाया, अतएव भक्तों द्वारा यह पूजनीय है। इस उपदेश को चैतन्य

महाप्रभु के अनुयायी, जो गौड़ीय वैष्णव कहलाते हैं, विशेषरूप से मानते हैं। चूँकि यह भूमि भगवान् से अभिन्न है, अतएव उद्धव तथा विदुर जैसे भक्तों ने ५००० वर्ष पूर्व इन स्थानों का भ्रमण किया जिससे वे दृश्य या अदृश्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। आज भी भगवान् के हजारों भक्त वृन्दावन के इन पवित्र स्थानों में भ्रमण करते हैं और इस तरह वे भगवद्धाम जाने की तैयारी करते हैं।

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।

रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमारीम्—बचपन के लिए उपयुक्त; दर्शयन्—दिखलाते हुए; चेष्टाम्—कार्यकलाप; प्रेक्षणीयाम्—देखने के योग्य, दर्शनीय; व्रज-ओकसाम्—वृन्दावन के वासियों द्वारा; रुदन्—चिल्लाते; इव—सदृश; हसन्—हँसते; मुग्ध—आश्चर्यचकित; बाल-सिंह—सिंह-शावक; अवलोकनः—उसी तरह का दिखते हुए।

जब भगवान् ने बालोचित कार्यों का प्रदर्शन किया, तो वे एकमात्र वृन्दावनवासियों को ही दृष्टिगोचर थे। वे शिशु की तरह कभी रोते तो कभी हँसते और ऐसा करते हुए वे सिंह के बच्चे के समान प्रतीत होते थे।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना चाहता है, तो उसे नन्द, उपनन्द तथा वृन्दावन के अन्य पितृवत् निवासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। बालक किसी वस्तु को पाने के लिए हठ कर सकता है और इसे पाने के लिए कितना भी रो सकता है, जिससे सारे पड़ोस की शान्ति भंग हो सकती है, किन्तु वांछित वस्तु के मिलते ही वह बालक तुरन्त हँसने लगता है। ऐसा रोना तथा हँसना माता-पिता तथा परिवार के गुरुजनों के लिए आनन्ददायक होता है। उसी तरह भगवान् एक ही समय रोते तथा हँसते और अपने भक्त माता-पिता को दिव्य आनन्द रस में निमग्न कर देते। ये घटनाएँ एकमात्र व्रजवासियों द्वारा, यथा नन्द महाराज द्वारा, आस्वाद्य हैं, ब्रह्म या परमात्मा के निर्विशेषवादी पूजकों द्वारा नहीं। कभी-कभी जब जंगल में कृष्ण पर असुर आक्रमण कर देते तो वे आश्चर्यचकित प्रतीत होते, किन्तु वे उन पर सिंह के बच्चे के समान दृष्टि डालते और उनको मार डालते; उनके बचपन के संगी भी आश्चर्यचकित हो उठते और जब वे घर लौटकर आते तो सारी कहानी अपने माता-पिता से कह सुनाते जिससे सारे लोग अपने कृष्ण के गुणों की सराहना करते।

बालक कृष्ण मात्र अपने माता-पिता नन्द तथा यशोदा के ही नहीं थे। वे वृन्दावन के समस्त वयोवृद्ध निवासियों के पुत्र थे और समस्त समवयस्क बालकों तथा बालिकाओं के मित्र थे। सारे लोग कृष्ण से प्रेम करते थे। वे पशुओं-गौवों बछड़ों समेत सभी लोगों के प्राणाधार थे।

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।

चारयन्ननुगान्गोपात्रणद्वेणुररीरमत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (कृष्ण); एव—निश्चय ही; गो-धनम्—गौ रूपी खजाना; लक्ष्म्याः—ऐश्वर्य से; निकेतम्—आगार; सित-गो-वृषम्—सुन्दर गौवें तथा बैल; चारयन्—चराते हुए; अनुगान्—अनुयायियों को; गोपान्—ग्वाल बालों को; रणत्—बजती हुई; वेणुः—वंशी; अरीरमत्—उल्लसित किया।

अत्यन्त सुन्दर गाय-बैलों को चराते हुए समस्त ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के आगार भगवान् अपनी वंशी बजाया करते। इस तरह वे अपने श्रद्धावान् अनुयायी ग्वाल-बालों को प्रफुल्लित करते थे।

तात्पर्य : जब भगवान् छः-सात वर्ष के हुए तो उन्हें चरागाहों में गौवों तथा बैलों की देखभाल करने का काम सौंप दिया गया। वे ऐसे सम्पन्न भूमिधर के पुत्र थे जिसके पास हजारों गौवें थीं। वैदिक अर्थशास्त्र के अनुसार मनुष्य अपने अन्न भंडार तथा गौवों के बल पर धनी व्यक्ति माना जाता है। केवल इन्हीं दो वस्तुओं, गौवों तथा अन्न, से मनुष्य अपनी खाद्य समस्या हल कर सकता है। मानव समाज को अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए केवल पर्याप्त अन्न तथा पर्याप्त गौवों की आवश्यकता होती है। इन दोनों वस्तुओं के अतिरिक्त बाकी सारी वस्तुएँ कृत्रिम आवश्यकताएँ हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने मूल्यवान् जीवन का हनन करने तथा व्यर्थ की वस्तुओं में अपना समय नष्ट करने के लिए उत्पन्न किया है। मानव समाज के शिक्षक रूप में भगवान् कृष्ण ने अपने कार्यों से यह दिखलाया कि वैश्यों को गौवें तथा बैल पालने चाहिए और मूल्यवान् पशुओं को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। स्मृति के नियमों के अनुसार गाय मनुष्य जाति की माता और बैल पिता है। गाय माता है, क्योंकि मनुष्य जिस तरह माता के स्तन का दूध पीता है, मानव समाज गाय का दूध पीता है। इसी तरह बैल मानव समाज का पिता है, क्योंकि पिता बच्चों के लिए उसी प्रकार कमाता है, जिस तरह कि बैल अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि जोतता है। मानव समाज पिता तथा माता का वध करके जीवन-आत्मा

का हनन कर देगा। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि सुन्दर गौवें तथा बैल विभिन्न चौकड़ीदार रंगों वाले थे लाल, काले, हरे, पीले, धूसर इत्यादि। उनके रंगों तथा स्वस्थ हँसमुख चेहरों के कारण वातावरण उल्लासपूर्ण था।

इन सबसे भी अधिक था, भगवान् अपनी सुविख्यात वंशी बजाया करते। उनकी वंशी की ध्वनि उनके मित्रों को दिव्य आनन्द प्रदान करती जिससे वे निर्विशेषवादियों द्वारा बहुप्रशंसित ब्रह्मानन्द की बातें भूल जाते थे। जैसाकि शुकदेव गोस्वामी बतलायेंगे, ये ग्वालबाल ऐसे जीव थे जिन्होंने ढेरों पुण्यकर्म संचित किये थे और जो भगवान् के साथ आनन्द ले रहे थे तथा उनकी दिव्य वंशी सुन रहे थे। ब्रह्म-संहिता से (५.३०) उनके द्वारा दिव्य वंशी बजाने की पुष्टि होती है :

वेणुं क्वणन्तम् अरविन्ददलायताक्षं

बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम् ।

कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।

ब्रह्माजी ने कहा, “मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी दिव्य वंशी बजाते हैं। उनकी आँखें कमल के फूलों जैसी हैं। वे मोरपंखों से सुशोभित हैं, और उनके शरीर का रंग नवीन श्याम बादल के सदृश है। उनका शारीरिक स्वरूप करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सुन्दर है।” ये भगवान् के विशिष्ट गुण हैं।

प्रयुक्तान्भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।

लीलया व्यनुदत्तांस्तान्बालः क्रीडनकानिव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रयुक्तान्—लगाये गये; भोज-राजेन—कंस द्वारा; मायिनः—बड़े-बड़े जादूगर, मायावी; काम-रूपिणः—इच्छानुसार रूप धारण करने वाले; लीलया—लीलाओं के दौरान; व्यनुदत्—मार डाला; तान्—उनको; तान्—जैसे ही वे निकट आये; बालः—बालक; क्रीडनकान्—खिलौनों; इव—सदृश।

भोज के राजा कंस ने कृष्ण को मारने के लिए बड़े-बड़े जादूगरों को लगा रखा था, जो कैसा भी रूप धारण कर सकते थे। किन्तु अपनी लीलाओं के दौरान भगवान् ने उन सबों को उतनी ही आसानी से मार डाला जिस तरह कोई बालक खिलौनों को तोड़ डालता है।

तात्पर्य : नास्तिक कंस कृष्ण को जन्मते ही मार डालना चाहता था। वह ऐसा करने में विफल रहा, किन्तु बाद में उसे यह जानकारी मिली कि कृष्ण वृन्दावन में नन्द महाराज के घर में रह रहे हैं। अतएव उसने कई जादूगर लगाये जो अद्भुत कार्य कर सकते थे और इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते थे। वे सभी बालक भगवान् के समक्ष विविध रूपों में, यथा अघ, बक, पूतना, शकट, तृणावर्त, धेनुक तथा गर्दभ रूपों में प्रकट हुए और हर बार उन्होंने भगवान् को मार डालने का प्रयास किया। किन्तु भगवान् ने एक-एक करके सबों को इस तरह मार डाला मानो वे खिलौनों से खेल रहे हों। बच्चे सिंह, हाथी, भालू तथा अन्य ऐसे ही विविध खिलौनों से खेलते हैं और खेलते खेलते वे इनको तोड़ डालते हैं। शक्तिशाली भगवान् के सामने कोई भी शक्तिशाली जीव खेलते हुए बच्चे के हाथों में सिंह के खिलौने के समान होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह ईश्वर से बढ़कर नहीं हो सकता। अतएव कोई भी व्यक्ति न तो उनके समान हो सकता है, न उनसे बड़ा। न ही किसी भी प्रकार के प्रयत्न से कोई व्यक्ति ईश्वर की समता कर सकता है। ज्ञान, योग तथा भक्ति ये आध्यात्मिक साक्षात्कार की तीन मान्य विधियाँ हैं। ऐसी विधियों की पूर्णता मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों में जीवन के वांछित गन्तव्य तक पहुँचा सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे प्रयत्नों से मनुष्य भगवान् की ही जैसी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। भगवान् प्रत्येक अवस्था में भगवान् रहते हैं। जब वे यशोदामाई की गोद में शिशु की तरह या जब वे ग्वलाबाल के रूप में अपने दिव्य मित्रों के साथ खेल रहे थे तो वे अपने षडैश्वर्यों में किञ्चित् कमी किये बिना ईश्वर बने रहे। इस तरह वे सदैव अद्वय हैं।

विपन्नान्विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।

उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विपन्नान्—महान् विपदाओं में परेशान; विष-पानेन—विष पीने से; निगृह्य—दमन करके; भुजग-अधिपम्—सर्पों के मुखिया को; उत्थाप्य—बाहर निकाल कर; अपाययत्—पिलाया; गावः—गौवें; तत्—उस; तोयम्—जल को; प्रकृति—स्वाभाविक; स्थितम्—स्थिति में।

वृन्दावन के निवासी घोर विपत्ति के कारण परेशान थे, क्योंकि यमुना के कुछ अंश का जल सर्पों के प्रमुख (कालिय) द्वारा विषाक्त किया जा चुका था। भगवान् ने सर्पराज को जल के भीतर प्रताड़ित किया और उसे दूर खदेड़ दिया। फिर नदी से बाहर आकर उन्होंने गौवों को

जल पिलाया तथा यह सिद्ध किया कि वह जल पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में है।

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।

वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन्सद्व्ययं विभुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; गो-सवेन—गौवों की पूजा द्वारा; गोप-राजम्—ग्वालों के राजा; द्विज-उत्तमैः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; वित्तस्य—सम्पत्ति का; च—भी; उरु-भारस्य—महान् ऐश्वर्य; चिकीर्षन्—कार्य करने की इच्छा से; सत्-व्ययम्—उचित उपभोग; विभुः—महान्।

भगवान् कृष्ण महाराज नन्द की ऐश्वर्यशाली आर्थिक शक्ति का उपयोग गौवों की पूजा के लिए कराना चाहते थे और वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी पाठ पढ़ाना चाह रहे थे। अतः उन्होंने अपने पिता को सलाह दी थी कि वे विद्वान् ब्राह्मणों की सहायता से गो अर्थात् चरागाह तथा गौवों की पूजा कराएँ।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सबों के शिक्षक हैं, अतएव उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को भी शिक्षा दी। नन्द महाराज एक सम्पन्न भूमिधर तथा अनेक गौवों के स्वामी थे और प्रथा के अनुसार वे प्रतिवर्ष स्वर्ग के राजा इन्द्र की पूजा बड़ी ही सजधज के साथ किया करते थे। वैदिक वाङ्मय में भी जनता द्वारा देवताओं की इस पूजा की सलाह दी गई है, जिससे लोग भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार करें। देवता तो भगवान् के दास हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड विषयक विविध कार्यों का प्रबन्ध देखने के लिए नियुक्त किया गया है। इसलिए वैदिक शास्त्रों में सलाह दी गई है कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य यज्ञ सम्पन्न करें। किन्तु जो व्यक्ति परमेश्वर की भक्ति करता है उसे देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सामान्यजनों द्वारा देवताओं की पूजा परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने की एक व्यवस्था है किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। ऐसा तुष्टीकरण सामान्यतया भौतिक लाभों के लिए ही किया जाता है। जैसे कि इस ग्रन्थ के द्वितीय स्कन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं, जो व्यक्ति भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेता है, उसे गौण देवताओं की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी अल्पज्ञ जीवों द्वारा पूजा तथा आराधना किये जाने से देवता गर्वित हो उठते हैं और वे भगवान् की श्रेष्ठता को भूल जाते हैं। ऐसी ही घटना तब घटी जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित थे, अतः भगवान् ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को पाठ सिखाना चाहा। उन्होंने नन्द महाराज से कहा

कि वे इन्द्र को अर्पित किया जाने वाला यज्ञ बन्द कर दें और गौवों तथा गोवर्धन पर्वत पर स्थित चरागाहों की पूजा करके धन का समुचित उपयोग करें। इस कार्य से भगवान् कृष्ण ने मानव समाज को शिक्षा दी, जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उन्होंने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपने समस्त कर्मों तथा उनके फलों द्वारा ब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। इससे वांछित सफलता प्राप्त हो सकेगी। वैश्यों को विशेषरूप से सलाह दी गई है कि वे गौवों तथा उनके चरागाहों की कृषियोग्य भूमि को संरक्षण प्रदान करें और गाढ़ी कमाई को व्यर्थ न फूँकें। इससे भगवान् तुष्ट होंगे। अपने व्यवसायपरक कर्तव्य की पूर्णता, चाहे वह कर्तव्य अपने प्रति, अपनी जाति के प्रति या अपने राष्ट्र के प्रति हो, भगवान् की तुष्टि की कोटि से आँकी जाती है।

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः ।

गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वर्षति—जब बरसात में; इन्द्रे—इन्द्र द्वारा; व्रजः—गौवों की भूमि (वृन्दावन); कोपात् भग्नमाने—अपमानित होने से क्रुद्ध; अति—अत्यधिक; विह्वलः—विचलित; गोत्र—गायों के लिए पर्वत; लीला-आतपत्रेण—छाता की लीला द्वारा; त्रातः—बचा लिये गये; भद्र—हे सौम्य; अनुगृह्णता—कृपालु भगवान् द्वारा।

हे भद्र विदुर, अपमानित होने से राजा इन्द्र ने वृन्दावन पर मूसलाधार वर्षा की। इस तरह गौवों की भूमि व्रज के निवासी बहुत ही व्याकुल हो उठे। किन्तु दयालु भगवान् कृष्ण ने अपने लीलाछत्र गोवर्धन पर्वत से उन्हें संकट से उबार लिया।

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयत्रजनीमुखम् ।

गायन्कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शरत्—शरद् कालीन; शशि—चन्द्रमा की; करैः—किरणों से; मृष्टम्—चमकीला; मानयन्—सोचते हुए; रजनी-मुखम्—रात का मुख; गायन्—गाते हुए; कल-पदम्—मनोहर गीत; रेमे—विहार किया; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मण्डल-मण्डनः—स्त्रियों की सभा के मुख्य आकर्षण के रूप में।

वर्ष की तृतीय ऋतु में भगवान् ने स्त्रियों की सभा के मध्यवर्ती सौन्दर्य के रूप में चाँदनी से उजली हुई शरद् की रात में अपने मनोहर गीतों से उन्हें आकृष्ट करके उनके साथ विहार किया।

तात्पर्य : गौवों की भूमि वृन्दावन छोड़ने के पूर्व भगवान् ने अपनी युवा-सखियों अर्थात् दिव्य गोपियों को अपनी रासलीला द्वारा आनन्दित किया। यहाँ पर उद्धव ने भगवान् के कार्यों का वर्णन

करना रोक दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् कृष्ण का स्मरण” नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।